श्री पञ्चदशी

(विवेक - प्रकरण)

ग्रन्थकार : श्री विद्यारण्य स्वामी

व्याख्याकार : स्वामी शंकरानन्द

ॐ तत्सत्

श्री परमात्मने नम:

श्री पञ्चदशी

प्रस्तावना

मानव मात्र के लिए कल्याणकारी जीवन जीने का विधान वेद मे संग्रहीत है। वेद की ही अन्तिम शिक्षा वेदान्त है। उसे उपनिषद भी कहते हैं। उसका परम पवित्र ज्ञान मनुष्य को सब कल्मष से मुक्त कर आनन्द, शान्ति और पुर्णता प्रदान कर देता है। प्रबुध्द लोग प्राचिन काल से ही उसका आदर करते आ रहे हैं। पहले यह ज्ञान भारत में ही केन्द्रित था, किन्तु अब संसार की सभी भाषाओं में यह ज्ञान उपलब्ध है। वैज्ञानिक विकास के साथ आवागमन और सम्पर्क के साधन बढे और उसी के साथ यह ज्ञान भी दुर-दुर फैला। अन्य देशों में इसका आदर होते देखकर हम भारतवासियों ने भी अपने पूर्वजों के द्वारा आर्जित् इस सम्पत्ति का मूल्य समझा और इसका अध्ययन कर इसे अपने जीवन में लाने का प्रयास कर रहे हैं।

वेद और उपनिषदों की भाषा तथा उनकी शैली कुछ जटिल है अथवा यह कहें कि आधुनिक भाषाओं का प्रयोग कर रहे मनुष्यों के लिए उनकी भाषा अभ्यास से बाहर होने के कारण कठिन प्रतीत होती है। इस समस्या का निवारण करने का प्रयास पहले भी हुआ है और अब भी हो रहा है। इसी कारण वेदान्त के नये-नये ग्रन्थों की रचना होती रहती है। शंकराचार्य जी ने उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों पर भाष्य लिखकर

उनका तात्पर्य स्पष्ट किया है और उन्होंने वेदान्त-दर्शन पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनके बाद उनके शिष्यों और अनुयायियों ने भी इस दिशा मे प्रयास जारी रखा। उनकी रचनाओं में श्री विद्यारण्य स्वामी के कई ग्रन्थ बडे महत्वपुर्ण और् ख्यातिप्राप्त हैं। वे भगवान् शंकराचार्य द्वारा स्थापित श्रृंगेरिमठ के आचार्य पद पर सन् १३७७ से १३८६ तक आसीन रहे। वे वेद-भाष्य रचयिता श्री सायण के भाई थे और स्वयं भी बडे विद्वान थे। उन्होने पञ्चदशी, सर्वदर्शन्-संग्रह, श्री शंकर दिग्विजय, जीवन-मुक्ति विवेक, अनुभूति प्रकाश, विवरण प्रमेय संग्रह, उपनिषद् दीपिका आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं। दृग्दृश्य विवेक पुस्तक के रचयिता भगवान् शंकराचार्य हैं अथवा विद्यारण्य स्वामी, इस विषय मे विवाद है।

श्री विद्यारण्य स्वामी की अन्य सभी रचनाओं की अपेक्षा "पञ्चदशी" अधिक लोकप्रिय हुई है। इसमे अद्वैत वेदान्त का निरुपण क्रमबद्ध, स्पष्ट और सविस्तार हुआ है। यद्यपि इसमे विरोधी मतों के खण्डन का प्रयास नहीं किया गया है फिर भी प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए उनमें दोष अवश्य दिखाये गये हैं। ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य वेदान्त में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को उसका सुखपूर्वक सम्यक् ज्ञान कराना ही है। लेखक ने इस विषय का प्रमाण उपनिषद् माना है, इसलिए मन्त्रों को उद्धृत करने मे कोई संकोच नहीं किया गया है। तर्क उपनिषद् प्रतिपादित सत्य का अनुगामी रहा है। तदनुरूप अनुभव प्राप्त करना उसका अन्तिम प्रमाण है। उसके साथ वेदान्त ज्ञान का फल जुड़ा हुआ है। ब्रह्म और आत्मा के एकत्व ज्ञान के अनुभव में ही कृत्कृत्यता, मुक्ति और् परमानन्द की उपलब्धि है।

हमारे समस्त दु:खों का अन्तिम कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही हम अपने सत्स्वरुप को भुलकर असत् शरीर आदि को ही अपना रूप मान बैठे हैं। देहात्मबुध्दि के कारण हम विकारी, मरणधर्मा और क्षुद्र बन गये। जगत् के विषयों को सत्य, सुखदायी और मूल्यवान समझ कर उनमें आसक्त हो गये। यह भ्रांति बने रहने तक दु:ख से छुटकारा नहीं हो सकता।

वेदान्त-दर्शन भ्रांति और दु:ख से मुक्त होने के लिए विचार और विवेक का मार्ग प्रशस्त करता है। विवेक बुध्दि सत्-असत् का विश्लेषण करती है। व्यवहार के छोटे से दायरे में हम सब विवेकवान हैं, किन्तु दु:खोंकि आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए इतना विवेक पर्याप्त नहीं है। घर के भीतर एक बालिका सफाई करते समय इतना विवेक रखती है कि अनुपयोगी कूड़ा क्या है जिसे घर के बाहर फेंक देना चाहिए। उपयोगी वस्तुओं को वह संभाल कर घर मे रखती है। किन्तु जब उसकी माँ उसे पडोसी के घर खेलने नहीं जाने देती तो उसे यह समझना कठिन हो जाता है कि इसमें माँ का क्या विवेक है। बडे होने पर वह जान जाती है कि उसका क्या रहस्य था। स्वयं माँ बनने

पर वह अपनी पुत्री को उसी प्रकार की शिक्षा देती है। वेदान्त-दर्शन हमें विवेकवान बनने के लिए इसके आगे ले जाता है। वह समस्त विश्व को अपने विचार का विषय बनाकर सत्-असत् का विवेक करने के लिए प्रेरित करता है। यह विवेक का अन्तिम रूप है।

सभी वेदान्त ग्रन्थों में सत् और असत् की परिभाषायें देकर अपने बाहर-भीतर उनकि पहचान करने कि प्रक्रिया बताई गयी है। यहां अपनी सत्ता से स्वतन्त्र रुप में विद्यमान, नित्य और निर्विकार् वस्तु को सत् स्वीकार किया जाता है। इन लक्षणों वाली वस्तु एक ही है, उसे आत्मा कहते हैं। वही परमात्मा या ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त जो कुछ नाम्-रूपात्मक भासित होता है, वह असत् या मिथ्या है। हमारी समस्या यह है कि हम असत् नामरूपात्मक विकारों को ही सत् समझते हैं और उन्हीं को अपनी सत्ता समझते हैं।

इस असत् के मायाजाल से निकल कर अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को खोजना और पहचानना ही वेदान्त के अनुसार हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है। इसके लिए अनेक उपाय बताये जाते हैं। उनमें से कुछ अवस्थात्रय विवेक, पञ्चकोश विवेक, द्रष्टादृष्य विवेक, महाभूत विवेक आदि हैं। इन उपायों से अपना वह स्वरूप मिल जाता है जिसे जानकर हम अपने को अमर, पुर्ण, अभय और आनन्दमय पाते हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि विवेक विचार की यह प्रक्रिया हम स्वतन्त्र रूप से अपना कर कभी सफल नहीं हो सकते। इस मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे बढे लोगों का अनुभव है कि अत्यधिक विलक्षण पुरुष भी अपने आप विचार कर आत्मज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। उन्हें पूर्व सफलता प्राप्त आत्मज्ञानी पूरुषों के मुख से वेदान्त ज्ञान का श्रवण करते हुए उपनिषद् आदि ग्रन्थों का अध्ययन और उनके महावाक्यों के अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। श्रवण के द्वारा ज्ञान होता है कि हमारी पूर्व धारणायें मिथ्या थीं। उनका त्याग कर अब नयी धारणायें बनानी चाहिए। यह कार्य करने के लिए मनन करने की प्रक्रिया उपयोगी है। इस प्रकार श्रवण और मनन के अभ्यास से आत्मज्ञान होने पर उसकी निष्ठा बनाये रखने का प्रयास निदिध्यासन है। योग-दर्शन में प्रत्यय एकतानता को ध्यान कहते हैं और वेदान्त में वही निदिध्यासन है।

उत्तम अधिकारियों को श्रवण मात्र से ही आत्मज्ञान हो सकता है किन्तु अन्य साधकों को मनन और निदिध्यासन का अभ्यास करना अपेक्षित होता है। प्रारम्भिक साधक को आत्म-चिन्तन एक कल्पना मात्र प्रतीत होती है, किन्तु उसे शास्त्र सम्मत मान कर निरन्तर करते रहने से वस्तुत: आत्मा कि उपलब्धि होती है। साधना के फलस्वरूप

आत्म-साक्षात्कार होना और उसमें तृप्ति का अनुभव केवल कल्पना या मिथ्या धारणा नहीं है। उसका प्रमाण यही है कि किसी अन्य ज्ञान के द्वारा उसका बाध नहीं होता।

आत्मज्ञानी पुरूष ही जीवनमुक्त है। वह शरीर में रहते हुए मुक्ति का आनन्द अनुभव करता है। यद्यपि उसे अपने लिए शरीर की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु वह शरीर की सहायता से अन्य लोगों को अपनी अनुभूतियों के द्वारा मार्ग-दर्शन दे सकता है। इसलिए जीवन्मुक्त पुरुष अपने आप में परब्रह्म परमात्मास्वरूप हैं और समाज के लिए बीच समुद्र में खडे दीप स्तम्भ के समान उज्वल आदर्श हैं। उन्हीं के द्वारा मानवता का विकास होता है और यह जगत् सर्वसाधारण के लिए रहने योग्य बनता है।

'पञ्चदशी' ग्रन्थ के पन्द्रह अध्यायों में श्री विद्यारण्य स्वामी ने इस वेदान्त विद्या का विस्तृत विवेचन किया है। सभी अध्याय अपने आप में पुर्ण होते हुए भी वे सब मिलकर ग्रन्थ को सब प्रकार से उपयोगी बना देते हैं। सम्पुर्ण ग्रन्थ तीन भाग में विभक्त है। प्रथम पाँच अध्याय 'विवेक' नाम से, दुसरे पाँच अध्याय 'दीप' नाम से और अन्तिम पाँच अध्याय 'आनन्द' नाम से अभिहित किए गए हैं। इससे ज्ञात होता है कि विवेक नामक अध्याओं में सत् वस्तु की खोज की गयी है, दीप नामक अध्याओं में उस सत् का अनुभव कराया गया है और आनन्द नामक अध्याओं में उस वस्तु के आनन्द का निरूपण है। हम यह भी कह सकते हैं कि समस्त ग्रन्थ में परमात्मा का ही प्रतिपादन किया गया है। विवेक नामक प्रथम पंचक में उसके सत् स्वरूप् का, दीप नामक दूसरे पंचक में उसके चित् स्वरूप का और अन्तिम आनन्द नामक पंचक में उसके आनन्द स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इसी क्रम से हम विवेक द्वारा असत् वस्तु का त्याग कर सत् स्वरुप आत्मा को पहचानने का प्रयास करते हैं, फिर उसके चित् स्वरूप का अनुभव कर उसके आनन्दस्वरूप तक पहुँच जाते हैं। अपने आत्मा में ही परमानन्द का अनुभव कर पुर्णता प्राप्त हो जाती है।

प्रत्यक्-तत्व-विवेक नामक पहले अध्याय में सम्पूर्ण ग्रन्थ का सार प्रस्तुत कर दिया गया है। उसी का विस्तार शेष समस्त अध्यायों में हुआ है। दूसरा अध्याय पंचमहाभूत-विवेक है। इसमें परमात्मा की शक्ति माया से समस्त पांचभौतिक सृष्टि की उत्पत्ति दिखा कर सत्स्वरूप परमात्मा और असत् या मिथ्यारूप सृष्टि के बीच विवेक किया गया है। इस विवेक से उत्पन्न ज्ञान-दृष्टि में एक सत्स्वरूप परमात्मा ही सर्वत्र दिखाई देने लगता है। मायामय जगत् तिरोहित हो जाता है। इसी के साथ समस्त भौतिक क्लेश भी समाप्त हो जाते हैं और जीवभाव का भी अन्त हो जाता है (२.१०४)।

पंचकोश-विवेक के द्वारा भी हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। उसका विस्तृत वर्णन तीसरे अध्याय में है। अन्नमय आदि पाँच कोश हमारे सत्स्वरूप आत्मा पर एक प्रकार के आवरण हैं। मुंज की घास से उसकी पत्तियां हटाकर जैसे अन्दर की सींक निकाल ली जाती है अथवा सर्दियों में पहने हुए अनेक वस्त्रों को एक-एक कर उतार देते हैं और अपने शरीर तक पहुंच जाते हैं, उसी प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय कोशों को अनात्मा समझ कर जब हम अपनी दृष्टि अपने नित्य अस्तित्व की और फेरते हैं तो हमें अपने आत्मा का अनुभव होता है।

चौथे अध्याय में ईश्वरकृत और जीवकृत दो प्रकार की सृष्टियों का वर्णन किया गया है। पहली सृष्टि 'जगत्' और दूसरी सृष्टि 'संसार'। जीव ने स्वयं संसार की रचना कर अपने लिये समस्या उत्पन्न की है। यदि शास्त्र ज्ञान से वह अपना संसार निरस्त कर दे तो उसे मुक्त होने में देर नहीं। यहां संसार का वर्णन बडे स्पष्ट रूप में हुआ है।

पांचवा अध्याय चार महावाक्यों का विवेचन कर आत्मा और परमात्मा की एकता का निरूपण करता है।

छठा अध्याय 'चित्रदीप' है। उसमे वस्त्र पर बने चित्र का दृष्टान्त देकर कुटस्थ पर नाम-रूपात्मक जगत् की रचना बताई गयी है। वस्त्र पर रंगो के द्वारा जड़ भूमि, जल, पर्वत की रचना और पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चेतन प्रणियों की रचना दिखाई जाती हैं। इसी प्रकार कूटस्थ परमात्मा पर आश्रित होकर समस्त जगत् का विस्तार हुआ है। जगत् तो कभी है कभी नहीं भी है किन्तु कुटस्थ सदा विद्यमान है। उसका निषेध नहीं हो सकता। यह कूटस्थ ही सबका आत्मा है। इस सत्स्वरूप आत्माका ज्ञान ही पुर्णता है। 'तृप्तिदीप' नामक सातवें अध्याय में इसी पुर्णता का वर्णन है। इसी में परम तृप्ति है। बृहदारण्यक उपनिषद् का एक श्लोक "आत्मानं चेद्विजानीयात......" (४.४.१२) ज्ञानी की इस स्थिति का वर्णन करता है और यह २९८ श्लोकों का अध्याय उसी एक श्लोक की व्याख्या करता है।

'कूटस्थदीप' नामक आठवें अध्याय में कूटस्थ आत्मा का पुन: निरूपण किया है और उसके सर्वाधिष्ठान, निर्विकार, निर्लेप और अविनाशी लक्षणों की तर्क के द्वारा स्थापना की है। उत्तम अधिकारी पुरुष विचार द्वारा ही उसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं किन्तु

मध्यम अधिकारी चिन्तन द्वारा अपना चित्त उसमें स्थापित करते हैं। इस चिन्तन प्रकृया का वर्णन 'ध्यानदीप' नामक नवें अध्याय में किया गया है। उसमें सम्वादी और विसम्वादी भ्रम का अन्तर बता कर यह दिखाया गया है की ध्यान-साधना सम्वादी भ्रम का एक प्रकार है और उससे सत् की प्राप्ति होना सहज स्वाभविक है। निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करने पर चिन्तनीय वस्तु यद्यपि मन की कल्पना है, किन्तु उसके फलस्वरूप सत्स्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है।

दसवें अध्याय में नित्यानित्य और द्रष्टा-दृष्य का विवेक करने में दीप के प्रकाश में हो रहे नाटक का उदाहरण दिया गया है। राज-सभा में दीपक जल रहा है। राजा तथा अन्य सभासद आकर अपने आसनों पर बैठते हैं। नृत्य करने वाला समाज और वादक आकर अपना नाटक प्रारम्भ करते हैं। राजसभा में उपस्थित ये सभी लोग दीपक के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। सभा समाप्त होती है और सब लोग चले जाते हैं। कक्ष खाली हो जाता है। उसे भी दीपक प्रकाशित करता है। इसी प्रकार साक्षी चैतन्य अन्त:करण की सभी वृत्तियों को प्रकाशित करता है और सुषुप्तावस्था या तुरीयावस्था में उनके न होने को भी प्रकाशित करता है। वह साक्षी चैतन्य वृत्तियों के होने या न होने से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता। वह सदा निर्लेप ही रहता है।

आत्मा आनन्दस्वरूप भी है। इसके आनन्द का अनुभव करना ही आत्मज्ञान है। तर्क द्वारा भी सिध्द किया जा सकता है की आत्मा परम प्रेमस्वरूप होने के कारण आनन्दस्वरूप है। इस विषय का विवेचन अन्तिम पाँच अध्यायों में किया गया है। इस प्रकार समस्त ग्रन्थ वेदान्त के सभी पक्षों का गहराई से विस्तृत विवेचन करता है। इससे साधकों को विचार और चिन्तन कर अपने लक्ष्य तक पहुंचने मे बड़ी सुविधा होती है। इसलिए वेदान्त-साधकों के बीच यह ग्रन्थ बहुत प्रचलित, उपयोगी और प्रसिद्ध हुआ है।

-स्वामी शंकरानन्द

मंधना,
कानपुर २०९२१७
१० सितम्बर - १९९४

ॐ तत्सत।
श्री परमात्मने नम:।

अध्याय १

प्रत्यक्-तत्त्व-विवेक

मंगलाचरण

ग्रन्थकार श्री विद्यारण्य स्वामी ने ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ करने के पूर्व दो श्लोकों में परमात्मस्वरूप गुरु की वन्दना की है। इसे मंगलाचरण कहते हैं। इसका उद्देश्य ग्रन्थ का निर्विघ्न समाप्त होना और अध्ययन करने वालों के लिए कल्याणकारी होना है। यह शिष्टजन परम्परा भी है।

नम: श्रीशंकरानन्द गुरुपादाम्बुजन्मने।
सविलास महामोह ग्राहग्रासैक कर्मणे।।

विलास सहित महामोह रूपी ग्राह का ग्रास कर जाना ही जिसका मुख्य काम है ऐसे शंकरानन्द गुरु पादाम्बुजों को मैं नमस्कार करता हूं।

व्याख्या - श्री विद्यारण्य स्वामी के गुरु हैं श्री शंकरानन्द महाराज। उनका स्मरण कर और उनके चरण कमलों की वन्दना कर ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। गुरु-वन्दना में उनकी महिमा भी गाई गयी है। साथ ही उनके प्रति अपनी भक्ति भी प्रक्रट की गयी है। इससे यह सूचित होता है कि गुरु का मुख्य कार्य शिष्य के मोह का नाश करना है और शिष्य को इसका अधिकारी बनने के लिए गुरु-चरणों में दृढ भक्ति रखनी चाहिए।

कोई भी विद्या गुरु-कृपा से ही प्राप्त होती है। वेदान्त ज्ञान तो गुरु से ही प्राप्त होता है। गुरु की कृपा से ही अज्ञान नष्ट होकर हृदय में शुध्द ज्ञान और आनन्द का प्रकाश होता हैं इसलिए अध्यात्म विद्या के जिज्ञासु शिष्य को अपने गुरु में ईश्वर भाव रखकर भक्ति करनी चाहिए।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:।।

'जिस महात्मा के हृदय में परमात्मा के प्रति परम भक्ति हो और वैसी ही भक्ति गुरु में भी हो उसे शास्त्र में कहे गये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप अर्थ अथवा श्रुति में कथित वचनों का अर्थ प्रकाशित होता है।'

श्रुतियाँ आत्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान कराती है। गुरु-कृपा से वह ज्ञान हृदय में प्रकट होता है। श्रुतियों ने स्वयं इस बात पर बल दिया है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'-अर्थात आचार्य (गुरु) की सेवा करने वाले को ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है कि तत्व ज्ञान की जिज्ञासा होने पर गुरु के पास जाना चाहिए। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणि: श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'-अर्थात जिज्ञासु को हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण मे जाना चाहिए। इस श्रुति-वचन में सद्गुरु के लक्षण भी बता दिये गये हैं

जो वस्तु जिसके पास होती है उसी से मिल सकती है। दरिद्री मनुष्य धनवान से ही धन प्राप्त कर सकता है। बंधे हुये मनुष्य को वही छुडा सकता है जो स्वयं छूटा हो। यदि दो व्यक्ति दो खम्भों में रस्सी से बंधे हों तो वे मुक्त होने में एक दूसरे की सहायता नहीं कर सकते। उनके अतिरिक्त जब कोई तीसरा मुक्त मनुष्य उनके पास आये और उन पर कृपा करे तभी वे मुक्त हो सकते हैं। इसी प्रकार गुरु होने का वही अधिकारी है जो स्वयं मोहमुक्त है। जिसने शाश्त्र का अध्ययन किया है, वही दूसरे को उसका अध्ययन करने में सहायता कर सकता है। मुण्डक और कठोपनिषद् में बंधे हुये मनुष्य का दृष्टान्त देकर यह श्लोक कहा गया है-

अविद्यायमन्तरे वर्तमाना:
स्वयं धीरा: पण्डिम्मन्यमाना:।
दन्द्रम्यमाणा: परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:।

'अविद्या के भीतर रहते हुये भी अपने आपको बुद्धिमान और विद्वान् मानने वाले वे मूर्ख लोग नाना योनियों में चारों ओर भटकते हुए ठीक उसी प्रकार ठोकरें खाते हैं, जैसे अन्धे मनुष्य के द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचते।'

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को ऐसे गुरु के पास जाना चाहिए जिसके ज्ञान के नेत्र खुले हों और स्वयं मोहमुक्त होकर आत्मानन्द में रमण कर रहा हो। श्री शंकरानन्द महाराज ऐसे ही गुरु हैं। उनके चरण कमलों की कृपा से मोह और उसके परिणामस्वरूप होने वाले दु:ख आदि सब मिट जाते हैं। विद्यारण्य स्वामी को इसका व्यक्तिगत अनुभव है।

संसार-सागर के जल में कमल भी उत्पन्न होते हैं और मगर भी। मगर सभी जल-जन्तुओं को खा जाता है, किन्तु कमल को नहीं खाता। कमल जल में रहते हुए भी उससे असंग रहता है। इसी प्रकार गुरु और शिष्य दोनों संसार में पडे प्रतीत होते हैं। किन्तु शिष्य तो मछली बन कर मोहरूपी मगर के मुख में दब जाता है, किन्तु गुरु कमल बन कर जल के ऊपर खिला प्रसन्न रहता है। वह अपनी सुगन्ध और शोभा सब और विकीर्ण करता है। वह अपना आदर्श प्रस्तुत कर शिष्य को असंग और ज्ञानवान बनने की प्रेरणा देता है। आश्चर्य की बात यह है कि ग्राह जैसे भयंकर मोह को अति कोमल चरण-कमल भी ग्रस जाने में समर्थ हैं। तात्पर्य यह है कि इस भयंकर, क्रुर संसार पर विजय पाने के लिए उससे भी अधिक दुर्धर्ष बनने की न आवश्यकता है, और उचित ही है। कोमल सत्त्विक भाव आर्जित कर दया, क्षमा और भक्ति द्वारा ही उस पर विजय पायी जा सकती है। एक छोटे अज्ञान को नष्ट करने के लिए एक बडा अज्ञान समर्थ नहीं होता। अज्ञान को ज्ञान ही नष्ट कर सकता है।

कमल और ग्राह के रूपक गुरु-कृपा की महिमा भी सूचित करते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि भगवान् शंकरचार्य ने अपने मंदमति शिष्य तोटक को अपनी कृपा से ज्ञानवान बना दिया। अन्य शिष्य जिसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, वह तोटक छन्द का रचयिता बन गया। उसके मुख से सहसा श्लोकों का शुद्ध उच्चारण सुनकर सभी लोग आश्चर्य में रह गये। अत: गुरु-कृपा से असंभव भी संभव बन जाता है।

इस श्लोक की रचना इतनी कुशलता से हुई है कि इसके द्वारा ग्रन्थ का अनुबंध चतुष्टय भी सूचित हो जाता है। ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ में ग्रन्थकार अपनी कृति के विषय में चार सूचनायें देता है, उन्हे अनुबंध चतुष्टय कहते हैं। विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी-इन चारों का सम्बन्ध ही अनुबंध है। वेदान्त ग्रन्थों का प्रतिपाद्य 'विषय' आत्मा और ब्रह्म की एकता होती है। इस श्लोक में 'शंकर' ब्रह्म है और 'आनन्द' आत्मा है। दोनों की एकता शंकरानन्द है। विषय और ग्रन्थ का सम्बन्ध प्रतिपाद्य-प्रतिपादक 'संबन्ध' है। ग्रन्थ का 'प्रयोजन' उसकी रचना का उद्देश्य होता है। महामोह का नाश और आत्मज्ञान के द्वारा परमानन्द की प्रप्ति कराना ही इसका प्रयोजन सूचित होता है। यदि कहो कि इस प्रयोजन से तो पहले ही अनेक ग्रन्थों की रचना हो चुकी है, तो अगले श्लोक में कहेंगे 'सुखबोधाय' अर्थात सरलता से आत्मज्ञान होना ही इसका विशेष प्रयोजन है। 'अधिकारी' वही है जिसका हृदय में गुरु-चरणों की भक्ति है। अन्तिम दो प्रयोजनों का विस्तृत उल्लेख अगले श्लोक में किया गया है।

तत्पादाम्बुरूह द्वन्द्व सेवानिर्मल चेतसाम्।

सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते।।२।।

'उन दोनों पाद-पद्मों की सेवा से जिनका चित्त निर्मल हो गया है उन्हें सुखपुर्वक तत्त्व का ज्ञान कराने के लिए इस विवेक की रचना की जा रही है।'

व्याख्या-'तत्पाद'-उन श्री शंकरानन्द महाराज के चरण जिनका उल्लेख पिछले श्लोक में हो चुका है। वहां 'गुरु-पादाम्बुजन्मने' पद एक वचन में रखा गया था। व्याकरण के 'जातित्वादेकवचनम्' नियम से एक जाति की अनेक वस्तुओं के लिए एक वचन का प्रयोग हो सकता है। यहां 'द्वन्द्व' कहकर गुरु के दोनों पदों की ओर ध्यान दिलाया गया है। वे दोनों चरण ज्ञान और वैराग्य हैं। उनकी सेवा करने से चित्त निर्मल होता है और आत्म-सुख का अनुभव होता है। चित्त विषयों के मल से मलीन होता है। उसे साफ किये बिना उस पर आत्म-ज्ञान का रंग नहीं चढता। विषयों में राग न रहने से चित्त निर्मल हो जाता है, और उसमें परमात्मा का प्रकाश प्रकट हो जाने से आनन्द छा जात है।

विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षत्व साधन चतुष्ट्य कहलाते हैं। इन गुणों से सम्पन्न पुरुष तत्त्वज्ञान का अधिकारी होता है। अत: इन्हीं गुणों को अधिकारी पुरुष का लक्षण भी मानते हैं। नित्य और अनित्य वस्तु की पहचान करने वाली बुध्दि का नाम है विवेक। विषय सुख की अनित्यता समझ कर उनका राग त्याग देना वैराग्य है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रध्दा और समाधान ये षट्सम्पत्तियां हैं। अध्यात्म पथ पर इन्हीं के बल पर प्रगति होती है। इसलिए इन्हें आध्यात्मिक सम्पत्ति कहते हैं। कर्म-बंधन और उससे प्राप्त होने वाले जन्म-मृत्यु के दु:खों को हेय समझकर उनसे छुटकारा पाने की प्रबल इच्छा का नाम मुमुक्षा है।

ऐसे चित्त-शुध्द अधिकारी को तत्त्वबोध कराने के लिए ग्रन्थकार 'प्रत्यक्-तत्त्व-विवेक' नामक इस प्रकरण की रचना करते है। उपाधि रहित निर्मल शुध्द वस्तु को तत्त्व कहते हैं। यहां तत्त्व का तात्पर्य सच्चिदानन्द घन परब्रह्म है। वही अपना सत्स्वरूप है। शरीर आदि उपाधियों से पृथक् कर उसका अनुभव प्राप्त करना तत्त्व-विवेक है।

आत्म चेतना की नित्यता

जीव का शुद्ध स्वरूप आत्मा है। सत्, चित्, और आनन्द उसके लक्षण हैं। युक्ति और अनुभव के द्वारा इनका बोध कराने के लिए पहले आत्मा की सत्यता सिद्ध करते हैं। इस प्रक्रिया से ज्ञात से अज्ञात की ओर जाते हैं।

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक्।

ततो विभक्तास्तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते।।३।।

'स्पष्ट व्यवहार वाली जाग्रत अवस्था में ज्ञान के विषयभूत शब्द, स्पर्श आदि विषय अलग-अलग धर्म वाले होने से वे एक दूसरे से अलग-अलग हैं किन्तु उनसे पृथक् रहने वाला उनका संवित् एकरूप होने के कारण भेद वाला नहीं होता है।'

व्याख्या--जीव की तीन अवस्थायें हैं-जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जब शरीर में स्थित होकर इंद्रियों से बाह्य जगत् का ज्ञान हो तो वह जाग्रदावस्था है। जब इंद्रियाँ मन मे लय हो जाती हैं और मन से विषयों का ज्ञान होता है तो उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। मन के भी लीन होने पर जब विषयों का ज्ञान नहीं होता तो वह सुषुप्ति अवस्था है।

पहले जाग्रत् अवस्था में हो रहे ज्ञान का विचार करें। इस समय श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिव्हा और नासिका से क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पाँच विषयों का ज्ञान होता है। जगत् की सभी वस्तुओं का ज्ञान इन्हीं पाँच रूपों मे होता है। विषयों के पाँच रूप होने के कारण ज्ञान भी पाँच प्रकार का होता है, जैसे शब्दज्ञान, स्पर्श ज्ञान आदि। किन्तु शुद्ध ज्ञान एक ही है। वही एक ज्ञान शब्द ग्रहण करने पर शब्दज्ञान है और स्पर्श ग्रहण करने पर स्पर्शज्ञान है। हम अपने अनुभव से जानते हैं कि हमारे एक ज्ञान में ही शब्द आदि विषय एक के बाद एक आते हैं। विषय बदलते रहते हैं, किन्तु उनको ग्रहण करने वाला एक ही रहता है। विषय के बदलने के साथ ज्ञान नहीं बदलता। जैसे एक किलो बाँट से एक किलो गेहूँ तौलने के बाद, एक किलो चीनी और फिर एक किलो दाल तौलते हैं, तो तौली हुई वस्तु बदलती जाती है किन्तु एक किलो का बाँट वही रहता है, वैसे ही एक ही ज्ञान से सब विषय जाने जाते हैं। विषयों के बदलने पर ज्ञान नहीं बदलता।

इस प्रकार विषयों की अनेकता देखकर हम कह सकते हैं कि विषय विभक्त हैं, उनमें भेद है, किन्तु ज्ञान अविभक्त है उसमे भेद नहीं है। नाना रूप विषय, ज्ञान की उपाधि हैं, जैसे घट, मठ आदि आकाश की उपाधियाँ हैं। एक अविभक्त आकाश घट की उपाधि से घटाकाश और मठ की उपाधि से मठाकाश कहलाता है। इसी प्रकार एक ही अविभक्त ज्ञान शब्द की उपाधि से शब्दज्ञान और रूप की उपाधि से रूपज्ञान समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि जाग्रत् अवस्था में विषयों का अनुभव करते समय विषयों की अनेकता, परिवर्तनशीलता और उनके गतागत स्वभाव को पहचान कर ज्ञान की एकता, अपरिवर्तनशीलता और नित्यता को समझने का प्रयास करना चाहिये। इसी ज्ञान की डोर को पकडकर हम आगे आत्मज्ञान की ओर बढेंगे। इस ज्ञान के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान ही आत्मज्ञान है।

जाग्रत् अवस्था में ज्ञान के एकत्व को पहचान कर स्वप्नावस्था में भी उसी ज्ञान की एकता देखनी चाहिए-

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ।
तद् भेदोऽतस्तयो: संवित् एकरूपा न भिद्यते।।४।।

'स्वप्न में भी तद्वत् है। यहाँ वेद्य विषय स्थिर नहीं होते किन्तु जाग्रत् अवस्था में स्थिर होते हैं। इसलिये दोनों अवस्थाओं में भेद है। किन्तु दोनों अवस्थाओं का संवित् (ज्ञान)एक रूप है। उसमें भेद नहीं है।'

व्याख्या-स्वप्नावस्था में भी विषयों की अनकेता और ज्ञान की एकता उसी प्रकार है जैसे जाग्रत् अवस्था में-'तथा स्वप्ने'। स्वप्न में जाग्रत् के समान शब्द, स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान होता है। विषयों की उपाधि से वह नाना प्रकार का भासित होने पर भी ज्ञान तत्वत: एक ही है। प्रत्येक विषय के साथ ज्ञान परिवर्तित या विकृत नहिं होता।

यदि दोनों अवस्थाओं में विषयों की भिन्नता और ज्ञान की एकता है तो उन अवस्थाओं में अन्तर क्या है? अन्तर यही है कि जाग्रत् अवस्था के विषय स्थिर हैं। सोकर उठने पर हम नित्य अपना वही कमरा, वही मेज, वही कुर्सी पाते हैं जो हमने सोने के पहले छोड़ी थी। इनमें स्थिरता दिखाई देती है, ऐसी स्थिरता स्वप्न की वस्तुओं में नहीं है। हर बार स्वप्न में वे वस्तुयें बदली हुई दिखाई देती हैं। हम वहाँ यह अनुभव नहीं करते कि हमने जो वस्तु कल यहां स्वप्न में देखी थी वही आज फिर देख रहे हैं। यद्यपि हम कभी-कभी एक ही समान दो बार स्वप्न देख सकते हैं, फिर भी उससे स्वप्न की वस्तुओं की स्थिरता सिध्द नहीं हो जाती। इसके अतिरिक्त स्वप्न की वस्तुयें देखते-देखते गायब हो जाती हैं और नई-नई प्रकट भी होती रहती हैं। यदि कहीं पडा हुआ एक रुपया दिखाई देता है तो हम सोचते हैं कि शायद आस-पास और भी रुपये पडे हों। इतना सोचते ही अन्य अनेक रुपये दिखाई देने लगते हैं। यद्यपि वहां नहीं थे तो भी प्रकट हो जाते हैं। यदी शंका होती है कि हमारी जेब से ये रुपये गिर न जायें तो सचमुच हमें अपनी जेब खाली मिलती है। तात्पर्य यह है कि स्वप्नावस्था के विषय जाग्रत् की अपेक्षा अस्थिर और क्षणिक होते हैं। यही दोनों अवस्थाओं के अनुभव का अन्तर है।

स्वप्न की वस्तुओं का अस्थिर स्वभाव देखकर ही हम स्वप्न को मिथ्या कहते हैं। जाग्रत् की वस्तुयें उसकी अपेक्षा अधिक स्थिर हैं इसलिये हम इसे सत्य समझते हैं। क्या इन दोनों अवस्थाओं का ज्ञान एक दूसरे से भिन्न है? क्या स्वप्न का ज्ञान दूसरा है और जाग्रत् का ज्ञान दूसरा है? क्या स्वप्न का ज्ञान भी स्वप्न की वस्तुओं के

समान अस्थिर और नश्वर है? यद्यपि स्वप्न के विषय भिन्न-भिन्न प्रकार के और अस्थिर हैं, तो भी उनका ज्ञान एकरूप और स्थिर है। इसलिए यद्यपि स्वप्न मिथ्या समझा जाता है किन्तु स्वप्न का ज्ञान मिथ्या नहीं होता। स्वप्न का ज्ञान भी वही है जो जाग्रत् में हम विषय से पृथक् कर शुध्द रूप में अनुभव करते हैं। एक ही ज्ञान से हम स्वप्न और जाग्रत् की पृथक् अवस्थाओं का अनुभव करते हैं। जो जाग्रत् का द्रष्टा है वही स्वप्न का द्रष्टा है। अपने एक ही ज्ञान में हम दोनों अवस्थाओं को आते-जाते देखते हैं। इसलिए ज्ञान की एकता जाग्रत् से स्वप्न तक एक समान है।

यही ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में भी व्याप्त है, यह दिखाने के लिए पहले सुषुप्ति अवस्था के विषय में बताते हैं-

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्त तमबोधो भवेत्स्मृति: ।
सा चावबुध्द विषयाऽव बुध्दं तत्तदा तम: ।।५।।

'सोकर उठे पुरुष को सुषुप्ति अवस्था के अज्ञान का बोध होता है, उसे स्मृति कहते हैं। वह स्मृति अनुभव किये गये विषय की है, क्योंकि वह अज्ञान उस अवस्था में अनुभव हुआ था।'

व्याख्या--भारतीय दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष आदि ज्ञान के छ: साधन माने हैं। वे छ: प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि हैं। स्मृति ज्ञान का साक्षात् साधन नहीं है। वह किसी प्रमाण से प्राप्त पूर्व ज्ञान की पुनरावृत्ति है। पहले कभी देखी हुई वस्तु यदि कालान्तर में पुन: बुध्दि में आती है तो उसे 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति ज्ञान यह सिध्द करता है की हमने वह ज्ञान पहले कभी प्रमाण से प्राप्त किया था।

सोकर जागने पर हमें स्मृति होती है कि अभी कुछ देर पहले इतनी नींद में सोते रहे कि कुछ भी पता न चला। कोई स्वप्न भी नहीं दिखाई दिया। सोते समय कुछ भी न जान पाने की स्मृति यह सिध्द करती है कि कुछ काल पहले यही हमारा अनुभवजन्य ज्ञान था। इससे सिध्द होता है कि सुषुप्ति में कुछ न ज्ञात होने का ज्ञान रहता है। वहां ज्ञान का अभाव नहीं है। केवल ज्ञान के विषय का अभाव है। विषय का अभाव तम रूप में भासित होता है।

सुषुप्ति अवस्था में रहने वाला शुध्द ज्ञान वही है जो जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में था-

स बोधो विषयाद् भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत्।
एवं स्थानत्रयऽप्येका संवित्तद्वद्दिनांतरे ।।६।।

'वह बोध विषय से भिन्न है, किन्तु जैसे स्वप्न का बोध भिन्न नहिं है वैसे ही जाग्रत् के ज्ञान से यह भिन्न नहीं है। इन तीनों अवस्थाओं में ज्ञान एक ही है। उसी प्रकार दूसरे दिन भी वही एक ज्ञान रहता है।'

व्याख्या--सुषुप्ति अवस्था का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि वह बोध विषय से भिन्न है। वहाँ विषय 'कुछ भी भासित न होना' अर्थात् विषय का अभाव है। वह भी ज्ञान से जान जाता है। ज्ञान और विषय का अभाव दोनों पृथक् हैं, जैसे शब्द और उसका ज्ञान पृथक् है। अत: ज्ञान सुषुप्ति में भी है किन्तु वह विषय के अभाव मात्र को प्रकाशित करता है। यह ज्ञान जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं के ज्ञान से पृथक् नहीं है। ज्ञान तीनों अवस्थाओं में एक ही है।

विषय भेद से हमारी तीन अवस्थायें हैं। जब हमें स्थिर विषयों का ज्ञान होता है तो वह जाग्रत् अवस्था है, जब अस्थिर विषयों का ज्ञान होता है तो वह स्वप्न अवस्था है। जब स्थिर-अस्थिर किसी विषय का बोध नहीं होता तो वह सुषुप्ति अवस्था है। इन तीनों की जानकारी ज्ञान में ही होती है। इससे सिध्द होता है कि एक ही ज्ञान तीनों अवस्थाओ में विद्यमान रहता है। उसमें भेद और पृथकता कभी नहीं होती। वह निरन्तर, शास्वत और नित्य है।

चौबिस घण्टे अर्थात् एक दिन-रात में तीन ही अवस्थायें होती हैं। उन तीनों अवस्थाओं में ज्ञान सतत् बना रहता है। इस शुध्द ज्ञान की निरन्तरता पहचाननी चाहिए। जैसे यह एक दिन-रात में अखण्ड और सतत् बना रहता है वैसे ही वह दूसरे दिन-रात भी बना रहता है। उसका न अभाव होता है और न वह बदलता ही है।

आत्मा की स्वयंप्रकाशरूपता

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा।
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा।।७।।

'अनेक बार आने-जाने वाले मास, वर्ष, युग और कल्प तक बिना उदित और अस्त हुए यह ज्ञान एक ही रहता है और वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है।'

व्याख्या--पिछले श्लोकों में यह दिखाया गया है कि एक दिन की जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं में ज्ञान एक ही है। वह दूसरे दिन भी उसी प्रकार एक है। इसी क्रम से यह समझा जा सकता है कि ज्ञान मास पर्यन्त एक ही रहता है। ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई देता जिससे एक या दो मास बाद ज्ञान की निरन्तरता नष्ट हो जाय। इसलिए यही समझना चाहिये कि एक के बाद एक आने वाले चैत्र, वैशाख आदि मासों में

प्रभव, विभाव आदि चौसठ संवत्सरों में, सतयुग आदि चारों युगों में तथा ब्राह्म, वाराह आदि कल्पों मे ज्ञान एक ही बना रहता है। वह न कभी उत्पन्न होता दिखाई देता है और न कभी लय होता हुआ। इसलिए ज्ञान नित्य है। ज्ञान का यह लक्षण स्वयं ज्ञान से ही जाना जाता है, क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश स्वरूप है।

यदि कहो कि शब्द ज्ञान के बाद स्पर्श या रूप का ज्ञान होता है अर्थात् एक ज्ञान नष्ट होकर दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है तो ऐसा कहना उचित नहीं है। हम पहले ही देख चुके हैं कि विषय (शब्द आदि) आते जाते हैं, उनका उदय-अस्त होता है किन्तु ज्ञान एक ही रहता है। वह बार-बार नष्ट होकर उदित नहीं होता।

यदि ज्ञान को उदित और नष्ट होने वाला मानो तो यह बताना होगा कि उसके उदय-अस्त का ज्ञाता कौन है? यदि कहो कि ज्ञान ही ज्ञान के उदय-अस्त का ज्ञाता है तो यह मानना उचित नहीं है। ज्ञान का उदय होने से पुर्व और उसके नष्ट होने के बाद उसका जानने वाला उससे पृथक् होना चाहिये तभी वह ज्ञान सम्भव होगा। इस समस्या से बचने के लिए यदि कहो कि एक ज्ञान के उदय-अस्त का जानने वाला दूसरा ज्ञान हो सकता है, तो यह भी उचित विचार नहीं है। हम देखते हैं कि ज्ञान और उसके द्वारा प्रकाशित होने वाले विषय तो पृथक् हैं, किन्तु ज्ञान में न भेद है और न उसकी दो पृथक् सत्तायें हैं। यह अनुभव से सिद्ध ही है, तर्क से भी सिद्ध हो सकता है। यदि ज्ञान का ज्ञाता दूसरा ज्ञान मानें तो उसका ज्ञाता भी उससे पृथक् अन्य ज्ञान मानना आवश्यक हो जायेगा। इस क्रम का कहीं अन्त न होगा और अनावस्था नामक दोष उपस्थित होगा। इसलिये ज्ञान को एक ही मानना तर्कसंगत है।

ज्ञान के एक होने और उसके अपरिवर्तनीय होने का बोध उसी ज्ञान से होता है। ज्ञान एक प्रकार का दिव्य प्रकाश है। जैसे सूर्य का प्रकाश स्वयं अपने को प्रकाशित करता है, उसे प्रकाशित करने के लिए दीपक आदि किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही ज्ञान स्वत: अपने को प्रकाशित करता है, उसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसलिए ज्ञान को स्वयं प्रकाशस्वरूप समझना चाहिए।

आत्मा की परमानन्दता

इयमात्मा परानंद: परप्रेमास्पदं यत:।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते।।8।।

'यह ज्ञान आत्मा है। परमप्रेमास्पद होने के कारण यह परमानन्द स्वरूप है। ऐसा कभी न हो कि मै न रहूँ, मैं सदा रहूँ इस प्रकार आत्मा में प्रेम दिखाई देता है।'

व्याख्या--वह ज्ञान जिसमें विविध विषयों और तीनों अवस्थाओं का बोध होता है, नित्य और स्वयं प्रकाश है। हम उसे अपने आप से अपृथक् अनुभव करते हैं, इसलिये यह आत्मा है। यदि मैं अपने को ज्ञान से पृथक् मानूं तो मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं या तो जड़ हूँ या फिर उस ज्ञान से पृथक दूसरा कोई ज्ञान हूं। अपने को जड़ मानकर मैं किसी ज्ञान को अपना ज्ञान स्वीकर नहीं कर सकता। ज्ञान से पृथक् अपने को जड़ मानना भी 'वदतो व्याघात' दोष है। यह कहना उसी प्रकार है जैसे मैं कहूँ कि मेरे मुँह में जिव्हा नहीं है। इसीलिये मैं अपने को ज्ञान से पृथक् मान ही नहीं सकता। यदि मैं कहूँ कि मैं विषयों को ग्रहण करने वाले ज्ञान से पृथक् कोइ दूसरा ज्ञान हूँ तो यह मानना पड़ेगा कि इन दोनों ज्ञानों में विभाजक रेखा क्या है? यह हम देख चुके हैं कि ज्ञान का लक्षण अविभक्त रहना है, जो यत्किंचित् विभाजन प्रतीत होते हैं वे ज्ञेय की उपाधि के कारण भासित होते हैं, ज्ञान स्वत: अविभाज्य है। इसलिए यही मानना उचित है कि ज्ञान मुझसे अभिन्न है और स्वयं प्रकाशित होने के कारण ज्ञान से ही ज्ञान का अनुभव हो रहा है। एक शब्द में कह सकते है कि ज्ञान आत्मा है।

हम सब जिस ज्ञान का आत्मभाव से अनुभव कर रहे हैं इसका एक महत्वपूर्ण लक्षण आनन्द भी है। आत्मा को परम आनन्दस्वरूप सिद्ध करने के लिए इस श्लोक में आचार्य एक तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा परम प्रीति का पात्र होने के कारण परमानन्दस्वरूप है। हम सबसे अधिक प्रेम अपने आप से करते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे अधिक सुख आत्मा मे ही है। हमें निर्विवाद रूप से स्वीकार करना होगा कि सुख और प्रीति का नित्य सम्बन्ध है। आत्मा का लक्षण आनन्द है और मन में आत्मा का प्रतिबिम्ब प्रीति बनकर अनुभूत होता है। इसलिए सभी पुरुषों को सुख से प्रीति होती है।

आत्मा की परमप्रियता सिद्ध करने के लिए इस श्लोक में आचार्य यह तर्क देते हैं-- 'मानभूवं हि भूयासम्'-- ऐसा न हो कि मैं न होऊँ वरन् सर्वदा रहूँ--हमारी यह कामना सिद्ध करती है कि मैं अपने से सर्वाधिक प्रेम करता हूं। यद्यपि शरीर आत्मा नहीं है फिर भी उसमें भ्रान्तिजन्य आत्मभाव के कारण उसे भी नष्ट नहीं होने देना चाहते। शरीर तो मलभाण्ड के समान हेय है किन्तु आत्मभाव के कारण ही उसमें प्रियता लगती है। वस्तुत: शुद्ध ज्ञान ही आत्मा है और उसी में परम प्रियता होने के कारण वह परम आनन्द भी है।

कभी लोगों में अपने प्रति घृणा भी देखी जाती है। वे आत्मग्लानि के कारण अपना विनाश ही करने को उद्यत हो जाते हैं। उनकी यह घृणा अपने शरीर, मन, बुद्धि के लिए होती है अथवा उनसे किये गये कर्मों के लिए होती है, ज्ञानस्वरूप आत्मा के लिए नहीं

होती। इसलिए वे शरीर को नष्ट कर अपनी ग्लानि से छुटकारा चहते हैं। शरीर और तज्जन्य ग्लानि से मुक्त होकर वे अपने शुध्द आत्मा का विनाश नहीं करना चाहते। इसलिए यह निर्णय पक्का है कि आत्मा परम प्रेमस्वरूप और परम आनन्दस्वरूप है।

आत्मा में परम प्रेम होने के कारण उसके आनन्दस्वरूप होने का प्रमाण श्रुति भी देती है। उसे उद्धृत करते हुए आचार्य कहते हैं-

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि।
अतस्तत्परमं तेन परमानंदताSSत्मनः।।9।।

'वह प्रेम अन्यत्र भी आत्मा के लिए ही है, किन्तु आत्मा में जो प्रेम है वह अन्य के लिए नहीं है। इसलिए आत्मा का प्रेम परम प्रेम है। इस कारण आत्मा की परमानन्दता सिद्ध होती है।'

व्याख्या--हम देख चुके हैं कि सुख और प्रीति का नित्य सम्बन्ध है। जहां कहीं सुख का अनुभव होता है उसी के प्रति हमारी प्रीति भी होती है। इसलिए जिस वस्तु या व्यक्ति में सुख पाने की आशा होती है उसी से प्रेम किया जाता है। दु:ख से प्रीती किसी को नही है। न कोई दु:ख चाहता है और न कोई दु:ख देने वाले वस्तु चाहता है। इस नियम से हम अपनी प्रीति को देखकर सुख का श्रोत खोज सकते हैं। वह श्रोत हमें चाहे सुख कभी न दे किन्तु उसमें सुख की कल्पना ही हमारे मन में उसके प्रति प्रीति उत्पन्न कर देती है। यदि हमारे मन में किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति प्रीति है तो यह निश्चय मान लेना चाहिए कि उसमें सुख प्राप्त करने की आशा करते हैं।

मान लो, हमें धन में प्रीति है। हम अपने मन में उस प्रीति का अनुभव करते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि हम धन मे सुख देने की सामर्थ्य समझते हैं। इसी प्रकार यदि हम मकान या फर्नीचर मे प्रीति करते हैं या गाय, घोडे आदि पशु मे प्रीति रखते हैं तो वहां भी सुख की आशा करते है। यदि माता-पिता या पति-पत्नी या पुत्र-पौत्र में हमारी प्रीति है तो वहां भी हम सुख पाने की आशा रखते हैं। यह मनोविज्ञान का एक सरल सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त को समझना कठिन नहीं है। किन्तु इसी के साथ एक सिद्धान्त यह भी है कि जिस वस्तु को सुखदायी समझ कर प्रीति करते हैं वह प्रीति उसी वस्तु के हेतु नहीं होती वरन् अन्ततः अपने लिए होती है। हमें धन में जो प्रीति है वह केवल धन के लिए नहीं है, वरन् वह धन हमें सुख दे तभी उसमे प्रीति है। इसका अर्थ यह है कि पहले मुझे अपने मे प्रीति है, तब अपने लिए अन्य वस्तुओं या व्यक्तियों में प्रीति है। हमारी प्रीति सैकडों वस्तुओं और सैकडों दिशाओं में बटी हो सकती है किन्तु वह सब

अन्त में अपने लिए ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे अधिक प्रेम हमे अपने से है। यदि ऐसा है तो सबसे अधिक सुख भी अपने आप में ही होना चाहिए।

अपने आप में सबसे अधिक सुख और प्रीति शास्त्र से भी प्रमाणित होती है। बृहदारण्यक उपनषिद् में याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी पत्नी मैत्रेयी को आत्मज्ञान की शिक्षा देते हुए कहते हैं--

'सहोवाच न वा अरे पत्यु: कामाय पति: प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय पति: प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति। आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्र: प्रिया भवन्ति। आत्मनस्तु कामाय पुत्रा: प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति। आत्मन्स्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशुनां कामाय पशव: प्रिया भवन्त्यामनस्तु कामाय पशव: प्रिया भवन्ति।'

उन्होने कहा-अरी मैत्रेयि! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहिं होता, अपने ही प्रयोजन लिए पति प्रिय होता है; पत्नी के प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय होती है; पुत्रों के प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय नहिं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय होते है; धन के प्रयोजन के लिए धन प्रिय नही होता, अपने ही प्रयोजन के लिए धन प्रिय होता है, पशुओं के लिए पशु प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए पशु प्रिय होते हैं।

याज्ञवल्क्य आगे कहते हैं कि सबके प्रयोजन के लिए सब प्रिय नहिं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा परम प्रेमस्वरूप है। यही दर्शनीय, श्रवणीय, मननिय और ध्यान करने योग्य है।

इस पर भाष्य लिखते हुए भगवान शंकराचार्य कहते हैं--"तस्माल्लोक प्रसिध्दमेतत्-आत्मैव प्रिय: नान्यत्"-अत: इस लोक में प्रसिद्ध है कि आत्मा ही प्रिय है अन्य कुछ नहीं। आत्मा परम प्रेमस्वरूप है, इसलिए यह परमानन्दस्वरूप भी है।

इसके अतिरिक्त आचार्य यह भी कहते है कि हमे अपने आत्मा में जो प्रेम है वह अपने लिए ही है, उसका प्रयोजन कोई अन्य वस्तु या व्यक्ति नही है। हमारे आत्मप्रेम या आत्मरक्षा का प्रयोजन यह नही है कि इसका लक्ष्य किसी अन्य व्यक्ति को सुख पहुँचाना हो। यदि कदाचित् ऐसा होता तो हम उसी को परमप्रेमास्पद मानते। जब हम देखते हैं कि अपना प्रेम सबके प्रति होते हुए भी अन्तत: वह अपने लिए ही है और अपना प्रेम भी अपने लिए ही है तो यह निश्चय हो जाता है कि आत्मा परम प्रेमस्वरूप है।

प्रेम और सुख का नित्य सम्बन्ध होने के कारण यह भी सिद्ध हो जाता है कि परम प्रेमस्वरूप आत्मा ही परम आनन्दस्वरूप है।

इस प्रकार हम अपनी जिस चेतना का सहज रूप में अनुभव कर रहे हैं यही हमारी आत्मा है और सत्-चित् तथा आनन्द इसके लक्षण हैं।

आत्मा और ब्रह्म की एकता

पिछले सात श्लोकों में आत्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्ध करने के बाद अब आत्मा और ब्रह्म की एकता प्रतिपादन करते हैं-

इत्थं सच्चित्परानंद आत्मा युक्त्या तथाविधम् ।
परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यंतेषूपदिश्यते ।।10।।

'इस प्रकार युक्ति द्वारा आत्मा सत्-चित् और परानन्दरूप (सिद्ध हुआ)।' उसी विधि परब्रह्म भी है। इसलिए उन दोनों की एकता का उपदेश उपनिषदों में किया गया है। '

व्याख्या--पिछले सत श्लोकों में आचार्य ने युक्ति द्वारा सिद्ध कर दिया कि हम अपनी जिस चेतना का अनुभव करते हैं यही हमरा स्वरूप है। हमारा यह आत्मस्वरूप सद्, चित् और परमानन्द स्वरूप है। आत्मा नित्य, अविनाशी और अविकारी होने के कारण बाध रहित है। ये उसके सत् होने के लक्षण हैं। यह ज्ञान स्वरूप, बोधस्वरूप और अपने आप से अनुभव में आनेवाला है, इसलिए यह चित्स्वरूप है। हमें अपने इस स्वरूप से सबसे अधिक प्रेम है, इसलिए यह आनन्द स्वरूप है। आत्मा में हमें ये तीन लक्षण मिलते हैं। इन तीन लक्षणों से युक्त अपने स्वरूप को पहचान लेना ही आत्माज्ञान है। (देखिये भगवान शंकराचार्य के आत्मबोध आदि प्रकरण ग्रन्थ)
श्रूतियों में यही तीन लक्षण ब्रहम के बताये गये हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रूति इस प्रकार है--**"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म.....रसो वै स:"**--ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप और अनन्त है, वही रस (आनन्द) है। अन्य उपनिषदों में भी ब्रह्म के यही लक्षण बताये गये हैं।

इस प्रकार जब आत्मा के वही लक्षण सिद्ध होते हैं जो ब्रह्म के हैं तो आत्मा और ब्रह्म एक ही वस्तु होना चाहिये। आचार्य इस सत्य का प्रतिपादन करते हैं। अत: हमें यही समझना चाहिये कि हम जिस अशरीरी आत्मा का अनुभव सत्, चित् और आनन्द स्वरूप अनुभव करते हैं वही सर्वात्मा और अनन्त होने के कारण ब्रह्म है। यहां यह शंका न करनी चाहिये कि ब्रह्म तो ब्रहत्तर है, परमात्मा है, भला वह मैं कैसे हो सकता

हूं? जैसे घटाकाश और महाकाश में भेद नहीं है वैसे ही आत्मा और ब्रह्म में भेद नहीं है।

आचार्य अपने मत की पुष्टि करने के लिए उसे उपनिषदों में भी उपदिष्ट कहते हैं। समस्त उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म का एकता का प्रतिपादन किया गया है। 'तत्त्वमसि' (छान्दो० 6-8-7) 'अहं ब्रम्हास्मि' (बृ० 1-4-10) 'अयमात्मा ब्रह्म' (वृ० 2-5-19) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० 3-2-9) 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म' (मान्डू० 1-2) इत्यादि ऐसे अगणित उद्धरण दिये जा सकते हैं। ये श्रूति वचन ही एक मात्र ऐसे साधन हैं जिनसे ब्रह्म ज्ञान होता है और प्राप्त हुए ज्ञान मे दृढता आती है। कैवल्य उपनिषद् का एक मन्त्र इस प्रकार है-

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सुक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्।।

'जो पर ब्रह्म है, सब का आत्मा है, विश्व का आधार है, सुक्ष्म से अधिक सुक्ष्म है और शाश्वत है, वही तुम हो और तुम ही वह है'

इस मन्त्र में कहा गया है कि जिस ब्रह्म को सर्वात्मा, सर्वाधार और सर्वव्यापी बताया जाता है वह तूम से कहीं दूर नहीं है। वह सर्वात्मा है तो तुम्हारा भी आत्मा है। तुम अपने आप को जो नित्य चेतन तत्त्व अनुभव करते हो वही ब्रह्म है। तुम अपने को उससे अलग समझे हुए हो, यह तुम्हारा भ्रम है। यदि कोई कहे कि 'तत्त्वमसि' का अर्थ 'तस्य त्वम् असि'--तुम उसके हो जो तुमसे भिन्न है, तुम वह नहीं हो बल्कि उसके अंश हो, तो उससे सावधान करने के लिए ही 'तत् और त्वम्' को उलट पलट कर आत्मा और ब्रह्म की एकता दृढ कर दी गयी है। ब्रहत्तर होने से जो ब्रह्म है वही अपने में स्वयं रूप से अनुभूत होने के कारण आत्मा है और सम्पूर्ण जगत् का आधार होने से परमात्मा है।

वस्तूत: हर व्यक्ति अपने आप को जानता है क्योंकि वह चेतन है, ज्ञान स्वरूप है। किन्तु उसे यह ज्ञात नहीं होता कि वह तो अपने शुद्ध रूप में परमात्मा है। यह ज्ञान श्रूति, युक्ति और अनुभव प्रमाण से प्राप्त होता है। अगले श्लोक में बताते हैं कि अपने आत्मा कि यथार्थ ज्ञान में बाधा क्या है।

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा।
अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानन्दतात्मन:।।11।।

'यदि आत्मा की परमानन्दता का भान न हो तो आत्मा के लिए परम प्रेम नहीं हो सकता और यदि उसका भान हो तो विषयों की इच्छा नहीं होगी। इसलिए आत्मा की परमानन्दता का भान होते हुए भी (उसका स्पष्ट) भान नहीं होता है।'

व्याख्या--युक्ति प्रमाण और शास्त्र प्रमाण से यह तो सिद्ध हो गया कि हम अपने सत्स्वरूप में परब्रह्म परमात्मा हैं, इसलिए नित्य मुक्त और आनन्द स्वरूप हैं, किन्तु अब देखना चाहिए कि हम अपने अनुभव मे क्या पाते हैं। क्या हम अपने अन्तर्तम में परमानन्द का रस ले रहे हैं? क्या हमे कोई अभाव और दु:ख पीड़ा नहीं दे रहा है? यदि हमे अपने आप से परम प्रेम है,यह स्वाभाविक और सत्य है, तो हमे स्वयं आनन्द स्वरूप होना ही चाहिए अन्यथा प्रेम और सुख के नित्य सम्बन्ध का नियम विच्छिन्न होता है। किन्तु अनुभव से यह सिध्द नहीं होता। यदि हम आत्मानन्द का अनुभव करते तो विषयों की कामना होने का प्रश्न ही नहीं था। हमें जो क्षुद्र विषय सुखों की कामना होते है, उससे सिद्ध होता है कि हमें आत्म के आनन्द का स्पष्ट ज्ञान नहीं है।

आत्मा के आनन्द-सिन्धु में वास करने वाला कभी विषय सुखों की ओस चाटने की इच्छा नहीं कर सकता। विषय सुख क्षणिक हैं और उनके साथ दु:ख भी मिला रहता है। इन्हें तो कुएं का खारा जल समझना चाहिए। उसे प्राप्त करने मे कष्ट और पीने मे बेस्वाद लगता है। ऐसे सुखकी कामना तो वही करेगा जिसे अमृत का मधुर सागर उमडता और लहराता हुआ नहीं मिला है। हमारी यह विषयासक्ति क्यों है?

इस प्रश्न के समाधान मे आचार्य कहते हैं कि वस्तुत: हमे अपने आत्मा का भान होते हुए उसकी परमानन्दता का अनुभव नहीं होता। हम अपनी सत्ता का, अपनी चेतना का अनुभव तो करते हैं किन्तु उसकी अनन्तता, पुर्णता और आनन्दता का अनुभव नहीं करते।

ऐसा क्यों है?

अध्येतृवर्गमध्यस्थ पुत्राध्ययन शब्दवत्।
भानेप्यभानं भानष्य प्रतिबंधेनयुज्यते।।12।।

'अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के वर्ग में विद्यमान पुत्र के अध्ययन के शब्द के समान भान होते हुए भी अभान होता है। भान का प्रतिबंध होने पर अभान होना उचित ही है।'

व्याख्या--ज्ञान सदा स्पष्ट रूप में ही होता है ऐसा नियम नहीं है। अस्पष्ट ज्ञान भी हो सकता है। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त हो सकते हैं जहां वस्तु का ज्ञान स्पष्ट रूप से नहीं होता। मेघाच्छादित सूर्य का कुछ प्रकाश रहता है। उसी से ज्ञात होता है की यह दिन का समय है, रात्रि नहीं है। किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि सूर्य इस समय आकाश में कहाँ स्थित है। मेघ हटने पर उसे स्पष्ट देखा जा सकता है।

यहाँ आचार्य विद्यार्थी वर्ग में बैठे अपने पुत्र की अस्पष्ट ध्वनि का दृष्टान्त देते हैं। मान लें, किसी विद्यालय में कुछ छात्र एक साथ वेद पाठ कर रहे हैं। उनकी सबकी मिली-जुली ध्वनियां उत्पन्न हो रही हैं। उसी समय एक विद्यार्थी का पिता अपने पुत्र से मिलने आता है। वह द्वार पर खडा विद्यार्थियों की ध्वनि ध्यान से सुनकर यह निश्चय करता है कि इस वर्ग मे मेरे पुत्र के भी ध्वनि हो रही है। वह अपने पुत्र के शब्द सुनते हुए भी स्पष्ट रूप से नहीं सुन पाता, क्योंकि अन्य बालकों की ध्वनियाँ उसे प्रतिबंधित कर देती हैं।

इसी प्रकार अपने आत्मा का आनन्द अपने आपमे परम प्रेम होने के कारण भासित तो होता है किन्तु वह स्पष्ट अनुभव मे नहीं आता। इससे ज्ञात होता है कि उसके साथ कोई प्रतिबंध अवश्य है। प्रतिबंध रहने तक हमें अपने आनन्द स्पष्ट अनुभव नहीं होता और हम सांसारिक सुख पाकर अपने को सुखी बनाना चाहते हैं।

<u>प्रतिबंध का लक्षण</u>

प्रतिबंध का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए अब उसका लक्षण बताते हैं-

प्रतिबंधोऽस्ति भातीति व्यवहारार्हवस्तुनि।
तन्निरस्य विरुध्दस्य तस्योत्पादनमुच्यते।।13।।

'व्यवहार के योग्य वस्तु के 'होने' और 'भासित होने' का निषेध करके उसके विरुध्द 'नहीं है' और 'नहीं भासित होती है' ऐसा व्यवहार उत्पन्न करने का नाम प्रतिबन्ध है।'

व्याख्या--यह 'प्रतिबंध' की परिभाषा है। यह वेदान्त का एक महत्वपूर्ण शब्द है। उसका यहां पहली बार प्रयोग करने का कारण उसकी परिभाषा देकर उसे स्पष्ट करते हैं। इसका तात्पर्य यथावत न समझ पाने पर आगे का विचार सही न होगा।

व्यवहार के योग्य वस्तु को हम सत् मानते हैं। उस वस्तु की सत्ता होती है, इसीलिए हम कहते हैं कि 'वह है'। उसके होने का प्रमाण यही होता है कि 'वह वस्तु भासित होती है'। उदाहरण के रूप में घट व्यवहार के योग्य 'वस्तु है'। उसमें हम अपने उपयोग के लिए जल भरकर रख सकते हैं। ऐसा घट यदि हमारे पास है तो वह हमें

दिखाई देगा। हम आँखों से घट देखते हैं, उसे हाथ से उठाकर सरोवर के जल में डुबोकर जल भर लाते हैं। इस प्रकार हम घट का व्यवहार करते समय उसका सत्ता पाते हैं और उसे देखते-छूते भी हैं।

यही व्यवहार मे आने वाला घट यदि किसी अंधेरे कमरे में रखा हो, तो अंधेरे के कारण हम उसके पास खडे रहकर भी उसे देख नहीं पायेंगे। हम यही कहेंगे कि घट भासित नहीं होता, इसलिए यहाँ घट नहीं है। घट के विषय मे यह हमारा विरुद्ध ज्ञान है। ऐसा विरुद्ध या विपरीत ज्ञान प्रतिबन्ध के कारण उत्पन्न होता है।

यदि घट हमारे निकट विद्यमान हो, उस पर प्रकाश हो, और हमारे पास उसे देखने के लिए नेत्र हों तो वह घट अनिवार्य रूप से हमे दिखाई देगा। प्रकाश के अभाव में अंधकार उसे ढक लेगा। अंधकार प्रतिबंध बनकर हमें घट देखने मे बाधा डालेगा। इस प्रकार प्रतिबंध व्यवहार्य वस्तु की सत्ता को आच्छादित करता है, उस वस्तु को नष्ट नहीं करता। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यदि कोइ वस्तु आकाश कुसुम के समान व्यवहार योग्य नहीं है तो वहां स्थिति दूसरी होगी। उसके न भासित होने के लिए प्रतिबंध की आवश्यकता नहीं होती। अव्यवहार्य वस्तु तो अपनी असत्ता के कारण भासित नहीं होती।

इसलिए प्रतिबंध का एक लक्षण यह भी है कि वह विद्यमान रहने पर जिस व्यवहार्य वस्तु को भासित नहीं होने देता उसे वह स्वयं हटकर भासित करा देता है। यदि हम प्रतिबंध हटा दें तो वह विद्यमान वस्तु जो पहले भासित नहीं होती थी अब भासित होने लगेगी। वह वस्तु हमें अप्राप्त नहीं है। प्रतिबंध के हटने पर उस वस्तु का दिखाई देना ही प्राप्त होने के समान प्रतीत होता है।

आत्मानन्द का प्रतिबंध

तस्य: हेतु: समानाभिहार: पुत्र ध्वनिश्रुत्रौ।
इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबंधनम्।।14।।

'पुत्र के शब्द के श्रवण में जैसे सब विद्यार्थियों के एक साथ बोलने के ध्वनि प्रतिबंधक है वैसे ही यहाँ (आत्मा की परमानन्दता जानने मे) व्यामोह का एक मात्र कारण अविद्या है।'

व्याख्या--पीछले बारहवें श्लोक में अध्येतृवर्ग में पुत्र के अध्ययन शब्द का अस्पष्ट होना बताया गया था। यह भी कहा गया था कि उस अस्पष्टता का कारण प्रतिबंध था। अब प्रतिबंध की परिभाषा देने के बाद कहते हैं कि उस दृष्टान्त में अनेक बालकों की उठी

हुई समवेत ध्वनि ही प्रतिबंध है। उसी के कारण पुत्र की ध्वनि स्पष्ट रूप से नहीं सुनाई देती।

हमारा मुख्य विचारणीय विषय आत्मा के आनन्द की अप्रतीति का कारण है। श्रुती और युक्ति से प्रमाणित आत्मा का आनन्द हमें अनुभव में क्यों नहीं आता? हम आनन्द स्वरूप होकर भी दुखी क्यों होते हैं?

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंदरासी।।
अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।।

आचार्य कह्ते हैं कि इसका कारण प्रतिबंध ही हो सकता है। यहाँ अनादि अविद्या ही हमारे आत्मानंद की प्रतिबंधक है। उसी से यह व्यामोह उत्पन्न हुआ है कि हम स्वयं आनन्दस्वरूप होते हुए भी उसे भूल गये और तुच्छ विषयों की कामना करने लगे। मोह वह अवस्था है जिसमें सत् वस्तु की प्रतीति नहीं होती और उसके स्थान में असत् वस्तु ही सत् भासित होने लगती है। मोह का व्यापक रूप व्यामोह है। उसके प्रभाव में हम दीर्घ काल में भटक रहे हैं।

अविद्या की उत्पत्ति

प्रतिबंध का कारण अविद्या है और अविद्या का कारण प्रकृति है। इसलिए अब प्रकृति का निरूपण करते हैं।

चिदानन्दमयब्रह्म प्रतिबिम्बसमन्विता।
तमोरज: सत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा।।15।।

'चिदानन्दमय ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से समन्वित प्रकृति सत्त्व, रजस और तमस गुणों वाली है और वह दो प्रकार की है।'

व्याख्या--ब्रह्म का लक्षण सत्, चित् और आनन्द शास्त्र प्रसिध्द है। प्रकृति उसकी शक्ति है। वह तीन प्रकार की है, सत्त्व, रजस और तमस रूप। ये तीनों गुण उस समय साम्यावस्था में होते हैं जब प्रकृति ब्रह्म में अव्यक्त रूप से विद्यमान होती है। तीनों गुणों का पृथक्-पृथक् और अपने रूप में विद्यमान रहना उनकी साम्यावस्था है। इन तीनों के मिलने पर ही सृष्टि का प्रारम्भ होता है। सृष्टि में जो कुछ भी भेद और नानात्व दिखाई देता है वह त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही कारण है। सीमायें और अल्पता भी इन गुणों की ही उत्पत्ति है।

ब्रह्म अनन्त और पूर्ण है। वह अखण्ड है। अपनी अनन्तता के कारण वह तीनों गुणों में भी व्याप्त रहता है। प्रकृति ब्रह्म की शक्ति होने के कारण और उसमें सर्वत्र ब्रह्म व्याप्त होने के कारण प्रकृति ब्रह्म से पृथक् और स्वतन्त्र नहीं हो सकती। समस्त सृष्टि में दोनों का होना स्वाभाविक और अनिवार्य है।

सत्त्वादि गुण परमात्मा का अन्तर्निहित शक्ति होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उन्हें पृथ्वी आदि के समान स्थूल पदार्थ नहीं समझना चाहिए। हम अपनी प्रवृत्ति या रूचि से उनकी समता करते हुए उन्हें समझने का प्रयास कर सकते हैं। सत्त्वगुण में ज्ञान और सुख की, रजोगुण में तृष्णा, कर्म और दु:ख की तथा तमोगुण में आलस्य, प्रमाद और अज्ञान की प्रवृत्ति है। इन गुणों के पृथक होने की अवस्था में शुध्द सत्त्वगुण उपलब्ध होना चाहिए। उसे हम एक वर्ग में रख सकते हैं। जब तीनों गुण विभिन्न अनुपात में मिलेंगे तो अनेक त्रिगुणात्मक इकाइयाँ बन जायेंगी। इस दृष्टि से प्रकृति दो प्रकार की हो गयी - एक तो शुध्द सत्त्वमयी और दूसरी मिश्रित त्रिगुणमयी। अब देखें की इनमें व्याप्त अनन्त चैतन्य क्या रूप उपस्थित करता है?

सत्त्वशुध्द्ध्यविशुध्दिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते।
मायाविम्बो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वर:।।16।।

'सत्त्वगुण की शुध्दि और अशुध्दि के कारण (प्रकृति के) माया और अविद्या दो भेद माने गये हैं। इनमें से माया में पड़ा (चिदानन्द ब्रह्म का) प्रतिबिम्ब सर्वज्ञ ईश्वर है। माया उसके वश में है।'

व्याख्या--शुध्द सत्त्व गुण की प्रकृति 'माया' कहलाती है। उसमें रजस या तमस मिश्रित नहीं है। इन गुणों के मिल जाने पर सत्त्व गुण मलिन हो जाता है। अब इसे 'अविद्या' कहते हैं। यही माया और अविद्या की परिभाषायें हैं। इन शब्दों का जहाँ कहीं प्रयोग हो वहाँ इनका यही अर्थ समझना चाहिए।

प्रकृति ब्रह्म की शक्ति है, किन्तु ब्रह्म अनन्त है, प्रकृति सीमित है। प्रकृति की ससीमता के कारण उसकी सत्ता ब्रह्म में एक देशीय मानी जाती है। प्रकृति के तीन अंग हैं। उसका एक अंग सत्त्व है इसलिए वह ससीम है। ब्रह्म अनन्त होने के कारण सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए वह सत्त्वगुणरूपा प्रकृति में भी व्याप्त है। यहाँ सत्त्वगुण के संयोग से ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। इस ईश्वर को सत्त्व गुण से परिच्छिन्न कह सकते हैं। आचार्य के मत से सत्त्व गुण में ब्रह्म का प्रतिविम्ब ईश्वर है।

ईश का अर्थ है स्वामी। सबसे बड़ा स्वामी होने पर वह ईश्वर कहलाता है। स्वामी का स्वामित्व तभी माना जाता है जब उसके अधिकार में या शासन में कुछ हो। जिस

माया के संयोग से ब्रह्म को ईश्वरत्व प्राप्त होता है वह माया ईश्वर के अधीन रहती है। शक्ति का शक्तिवान के अधीन रहना स्वाभाविक भी है। इसीलिए आचार्य 'वशीकृत्य' कहकर माया को ईश्वर के वश में बताते हैं।

शुध्द सत्त्व गुण ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द लक्षणों को आवृत नहीं करता। इसलिए उसमें प्रतिविम्बित चैतन्य बाधित या प्रतिबंधित नहीं होता। यही कारण है कि ईश्वर के ज्ञान में कोई कमी नहीं आती। वह सर्वज्ञ रहता है। 'सर्व' मायारचित नानात्व का सूचक है और 'ज्ञ' ब्रह्म की ज्ञानस्वरूपता का। ब्रह्म सर्व का ज्ञाता होकर सर्वज्ञ है और सर्वज्ञता ईश्वर का लक्षण है। जैसे ब्रह्म के तीन लक्षण हैं सत्, चित् और आनन्द; वैसे ही ईश्वर के तीन लक्षण हैं-सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और सर्वान्तरयामित्व। ईश्वर माया के अन्तर्वर्ती होकर उसका नियमन करता है।

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ।
सा कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्।।17।।

'किन्तु दूसरा अविद्या के वश में हुआ चिदात्मा जीव है। वह अविद्या की विचित्रता से अनेक प्रकार का होता है। अविद्या कारण शरीर है और उसका अभिमानी जीव प्राज्ञ कहलाता है।'

व्याख्या--सत्त्वगुण के साथ रजस और तमस मिश्रित होने पर अविद्या की उत्पत्ति होती है। तमस से आवरण और रजस से विक्षेप होता है। इन दोनों के कारण उसमें व्याप्त चिदानन्द ब्रह्म आवृत हो जाता है। उसका बोध या अनुभव न होना ही अविद्या है। त्रिगुणात्मक अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म 'जीव' कहलाता है। जीव को अपने ब्रह्म स्वरूप का ज्ञान न रह जाने के कारण वह अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवान रह जाता है। वह अपने को प्रकृति के अधीन अनुभव करने लगता है।

सत्त्व गुण में रजस और तमस विभिन्न अनुपातों में मिल सकता है। पचास प्रतिशत सत्त्व के साथ पचीस-पचीस प्रतिशत रजस और तमस हो सकते हैं, उतने ही सत्त्व के साथ तीस और बीस प्रतिशत रजस और तमस भी हो सकते हैं और पचास प्रतिशत रजस के साथ चालीस और दस प्रतिशत सत्त्व और तमस भी हो सकते हैं। इस प्रकार ये अनुपात अगणित हो सकते हैं। इस प्रकार के अनुपातों की एक इकाई अन्य इकाई से गुण और स्वभाव में भिन्न होगी। इसलिए उनका अभिमानी जीव कोई देव होगा, तो कोई मनुष्य, कोई पशु होगा तो कोई पक्षी। जीवों की अनेकता और उनके विविध स्वभावों की व्याख्या इसी से हो जाती है।

जीव की अविद्या उसका कारण शरीर है। अविद्या त्रिगुणात्मक है, इसलिए कारण शरीर में सत्त्व, रजस और तमस तीनों गुण किसी न किसी अनुपात में रहते हैं। ये तीनों गुण अपने अन्दर विद्यमान चिदात्मा को परिच्छिन्न करते हैं। इसलिए वे शरीर के समान हैं। 'शरीर' शब्द से ही संकेत मिलता है कि 'शीर्यते इति शरीरम्'--जो नष्ट हो जाय वह शरीर है, अविद्या का शरीर भी विद्या अर्थात ज्ञान से नष्ट हो जाता है। अविद्या रहने पर जीव अपने स्वरूप को नहीं जानता और वह प्रकृति के बंधन में रहता है। ज्ञान के द्वारा अविद्या नष्ट हो जाने पर जीव ब्रह्मरूप हो जाता है।

जीव के तीन शरीर हैं--कारण, सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म और स्थूल शरीरों का वर्णन आगे करेंगे। यहाँ आचार्य यह बता देते हैं कि कारण शरीर का अभिमानी जीव प्राज्ञ कहलाता है। 'प्राज्ञ' का अर्थ है 'मैं कुछ नहीं जानता'। इसलिए अविद्या का अभिमानी प्राज्ञ होना ही चाहिए।

इस विचार के अनुसार ईश्वर और प्राज्ञ तत्त्वत: ब्रह्म हैं। शुध्द सत्त्व की उपाधि से ज्ञानवान ब्रह्म ईश्वर है और मलिन सत्त्व की उपाधि से अज्ञानवान हो कर वही ब्रह्म प्राज्ञ है। प्रकृति विस्तार की दृष्टि से दोनों एक ही स्तर के हैं।

कारण शरीर किसी कार्य की सूचना देता है। उसके कार्य हैं--सूक्ष्म और स्थूल शरीर। अत: अब उनका वर्णन करते हैं।

तम: प्राधानप्रकृतेस्तद् भोगायेश्वराज्ञया।
वियत्पवन तेजोऽम्बु भुवो भूतानि जज्ञिरे।।18।।

"प्राज्ञ के भोग हेतु ईश्वर की आज्ञा से तमोगुण प्रधान प्रकृति से आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी (पाँच सूक्ष्म) भूतों की उत्पत्ति होती है।'

व्याख्या--शुध्द सत्त्व प्रधान चैतन्य ईश्वर है और मलिन सत्त्व प्रधान चैतन्य जीव है। जीव में सत्त्व के साथ रजोगुण होने के कारण उसे सुख-दु:ख भोगना स्वाभाविक है। सत्त्व का फल सुख और रजस का फल दु:ख है। जीव के साथ जब तक इन गुणों की उपाधि है, उसे सुख-दु:ख भोगना अनिवार्य है। **'सुख-दु:ख साक्षात्कारो भोग:'** सुख-दु:ख के सक्षात्कार या अनुभव का नाम ही भोग है। तमस जीव के आनन्द स्वरूप को आवृत किये रहता है।

सुख-दु:ख का भोक्ता प्राज्ञ (कारण शरीराभिमानी जीव) है। भोग के लिए भोग्य पदार्थ और उनसे सम्पर्क करने वाली इन्द्रियों आदि की आवश्यकता होती है। उन्हें उपलब्ध कराने के लिए ईश्वर की आज्ञा से प्रकृति उनकी रचना करती है। ईश्वर सर्वज्ञ होने के

नाते और जीवों का भोग प्रदाता होने के कारण जानता है कि जीव को भोग के लिए किन साधनों की आवश्यकता है। ईश्वर की इच्छा ही उसकी आज्ञा है। उसके इच्छा करते ही उसके अधीन माया अपने तमस प्रधान अंश से सृष्टि प्रारम्भ कर देती है। यह सृष्टि कार्य वैसे ही होता है जैसे हम अपने मन में एक सुन्दर नगर की कल्पना करें और मन उस नगर का तत्काल निर्माण कर दे। श्रुति वचन है, **'स ईक्षते एकोऽहं बहुस्याम्'**--उसने इच्छा की कि मैं एक से बहुत हो जाऊँ। इस रचना-प्रक्रिया से यह भी संकेत मिलता है कि यह समस्त सृष्टि ईश्वर की कल्पना मात्र है। ईश्वर सर्वशक्तिमान होने के कारण उसकी कल्पना भी क्षुद्र जीव के लिए सुदृढ़ और स्थिर प्रतीत होता है।

प्रकृति की सभी रचानाओं में तीनों गुण किसी न किसी अनुपात में मिले रहते हैं। जीव के कारण शरीर में सत्त्व की प्रधानता है और रजस-तमस कम अनुपात में है। तमस की प्रधानता रखकर जब उसमें सत्त्व और रजस कम अनुपात में मिलते हैं तो आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पाँच सूक्ष्म भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। ये भौतिक पदार्थ वे नहीं है जिन्हें हम अपनी आँखो के बाहर देखते हैं। ये तो स्थूल भूत पदार्थ हैं। सूक्ष्म पंच महाभूत उसी स्तर की रचना है जिस स्तर का हमारा अन्त:करण। यह अगले श्लोक में स्पष्ट करते हैं-

सत्त्वांशैः पंचभिस्तेषां क्रमाध्दीन्द्रिय पंचकम्।
श्रोत्रत्वगक्षि रसनघ्राणाख्यमुपजायते।।19।।

'उन पंचभूतों के सत्त्वगुण के पांच अंशो से क्रमश: श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और घ्राण इन पाँच ज्ञान इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।'

व्याख्या--सूक्ष्म पंचमहाभूतों से समस्त सूक्ष्म शरीर की रचना होती है। सूक्ष्म शरीर में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, अन्त:करण, पाँच कर्मेन्द्रियां और पाँच प्राण हैं। इनमें से पहले ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। पहले इन्द्रियों का यथार्थ रूप पहचान लेना चाहिए। हम अपने शरीर में जो छिद्र देखते हैं वे शरीर के द्वार हैं। जाग्रत अवस्था में वहाँ इन्द्रियाँ स्थित रहकर बाह्य जगत से सम्पर्क करती हैं। इन द्वारों को इन्द्रियों के गोलक कहते हैं। इन्द्रियों का रूप सूक्ष्म है। स्वप्न देखते समय हम जिन इन्द्रियों का प्रयोग करते हैं वे स्थूल में भासित होने वाली इन्द्रियाँ नहीं है। इसी से हमें इन्द्रियों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है।

जिन इन्द्रियों से विषय ग्रहण करना होता है उन्हे ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं। ज्ञान सत्त्व गुण का लक्षण है। इसलिए विषयों का ज्ञान ग्रहण करने वाली इन्द्रियों में सत्त्वगुण अवश्य होना चाहिए। सूक्ष्म पंचभूत यद्यपि तमस प्रधान हैं किन्तु उनमें सत्त्व और रजस भी मिश्रित है। इन पाँचों भूतों से सत्त्व प्रधान अंश ग्रहण करके क्रमश: पाँच

इन्द्रियों की रचना होती है। आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वक्, अग्नि से नेत्र, जल से रसना और पृथ्वी से घ्राण इंद्रिय की उत्पत्ति होती है।
आकाश की तन्मात्रा शब्द है और शब्द का ग्रहण श्रोत्र से होता है। इसलिए आकाश, शब्द और श्रोत्र का एक युग्म है। इनके तीनों घटकों का भेद गुणों के न्यूनाधिक अनुपात के कारण है। यही क्रम सभी इंद्रियों के साथ समझना चाहिए। जितनी सूक्ष्म शब्दादि तन्मात्रायें हैं उतनी ही सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं, तभी वे उन्हें ग्रहण कर सकती हैं।

अब अन्त:करण की उत्पत्ति बताते हैं-

तैरंत:करणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तदि्द्वधा।
मनो विमर्शरूपंस्याद् बूध्दि: स्यान्निश्चयात्मिका।।20।।

'उन्हीं (पांचों महाभूतों के सम्मिलित सत्त्वांश) से अन्त:करण की उत्पत्ति होती है। वृत्ति के भेद से वह दो प्रकार का है। उनमें से विमर्श (संकल्प-विकल्प) रूप मन है और निश्चय रूप बुध्दि है।'

व्याख्या--सूक्ष्म पंचभूतों के सत्त्वांश से पाँच ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई और वही पाँचों सत्त्वांस मिलकर अन्त:करण बन जाते हैं। अन्त:करण भी सत्त्व प्रधान है, इसी से वह इन्द्रियों द्वारा प्राप्त विषयों को ग्रहण कर उन्हें एकीकृत करता है और उनका निश्चय कर उस पर प्रतिक्रिया करता है। हमारे सामने एक पुष्प रखा है। नेत्रों से वह पंखुड़ी आकार का और लाल रंग का दिखाई देता है। हाथ से छू कर उसकी कोमलता ज्ञात होती है। नासिका से उसकी गन्ध मिल रही है। पुष्प से प्राप्त होने वाले ये तीन विषय तीन इन्द्रियों के द्वारा हमारे अन्दर पहुँचते हैं। वहाँ इन तीनों विषयों को मन एकीकृत कर सुगंधित, कोमल, लाल पुष्प की रचना कर लेता है। यह पुष्प की मानसिक अनुकृति है, जिसे वृत्ति कहते हैं।

पुष्प की मानसिक वृत्ति निर्मित होने पर हम प्रश्न करते हैं कि यह कौन पुष्प है। यह गुलाब है या गेंदा? जब तक हम कुछ निश्चय नहीं कर पाते वह वृत्ति मन कहलाती है। मन द्वारा उठाये प्रश्न पर अन्त:करण काम करना प्रारम्भ करता है। वह पूर्व ज्ञान से मन की वृत्ति की तुलना करता है। इस प्रकार के पुष्प को हम पहले गुलाब नाम से जान चुके हैं। उसकी स्मृति के बल पर हम निश्चय करते हैं कि यह गुलाब का पुष्प है। अब अन्त:करण की यह गुलाब रूप वृत्ति स्पष्ट और निश्चित हो गयी। इसले इसे बुध्दि कहते हैं।

बुध्दि पूर्व अनुभव की आधार पर यह भी बताती है की गुलाब की सुगन्ध सुखद है, इसलिए सामने उपस्थित गुलाबको ग्रहण कर उसका सुख पाने के लिए उसे नासिका

के पास लाना चाहिए। बुध्दि अपना आदेश मन को देती है और मन हाथ को आदेश देकर पुष्प उठवा लेता है। इस समय हाथ की कर्मेन्द्रिय और उसकी शक्ति की आवश्यकता होती है।

अब बताते हैं की कर्मेन्द्रिय की उत्पत्ति कैसे होती है-

रजोंऽशै: पञ्चभिस्तेषां क्रमात्कर्मेन्द्रियाणि तु।
वाक्पाणिपादपायुपस्थाभिधानानि जज्ञिरे।।21।।

'किन्तु उन पाँच (सूक्ष्म भूतों) के रजोगुण प्रधान अंश से क्रमश: वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिंग नाम की पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती है।'

व्याख्या--रजोगुण रागात्मक है। उससे तृष्णा, आसक्ति और कर्म का उद्भभव होता है। इसलिए त्रिगुणात्मक सूक्ष्म पंचमहाभूतों के रजसांश से पाँच कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। आकाश के रजोगुण वाले भाग से वाणी, वायु के रजोगुण वाले भाग से हाथ, अग्नि के रजोगुण वाले भाग से पग, जल के रजोगुण वाले भाग से लिंग और पृथ्वी के रजोगुण वाले भाग से गुदा की उत्पत्ति होती है। आकाश की तन्मात्रा शब्द है और शब्द की उत्पत्ति वाणी करती है, इसलिए आकाश, शब्द और वाणी का सम्बन्ध है। इसी प्रकार अन्य सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति और स्वभाव समझने चाहिए।

कर्मेन्द्रियों का स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों के समान सूक्ष्म है। स्थूल शरीर के हाथ-पैर आदि अंग उन इन्द्रियों के वासस्थान या गोलक हैं। हाथ इन्द्रिय के सक्रिय होने पर स्थूल शरीर का हाथ कहलाने वाला अंग कार्य करता दिखाई देता है। सभी कर्मेन्द्रियाँ मन के अधीन हैं। मन के कार्य करने पर इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के कार्य करने पर शरीर कार्य करता है।

इस प्रकार पंच महाभूतों के रजसांश से पृथक्-पृथक् कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। अब बताते हैं कि उनके एकीकृत रजसांश से प्राण की उत्पत्ति होती है-

तै: सर्वै: सहितै: प्राणो वृत्तिभेदात्स पंचधा।
प्राणोऽपान: समानश्चोदानव्यानौ च ते पुन:।।22।।

'पंच महाभूतों के उन सब रजसांशो के एक साथ मिलने से प्राण की उत्पत्ति होती है। वृत्तिभेद से वह पाँच प्रकार का है-प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।'

व्याख्या--सूक्ष्म पंचमहाभूतों के पृथक्-पृथक् रजसांशों के एक साथ मिलने से प्राण शक्ति की उत्पत्ति होती है। यह सब शरीर में, सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में तथा

अन्त:करण में व्याप्त होकर क्रिया उत्पन्न करता है। प्राण एक सामान्य शक्ति है। वह जिस अंग में व्याप्त होता है वहां उस अंग के अनुरूप क्रिया उत्पन्न करता है। प्राण वाणी में स्थित होकर शब्द उत्पन्न करता है, हाथ में स्थित होकर किसी वस्तु को पकड़ने और उठाने क कार्य करता है और पैरों में स्थित होकर चलने का काम करता है। नेत्र आदि इन्द्रियों में भी यह उनके संचालन का कार्य करता है।

यद्यपि प्राण एक है, किन्तु कार्यों के अनुरूप उसके पाँच नाम मुख्य हैं। वक्ष में स्थित प्राण फेफड़ों को संचालित कर श्वास को बाहर निकालता और अन्दर ले जाता है। इसका नाम 'प्राण' है। गुदा आदि अधोभाग में रहकर जब प्राण मलमूत्र का विसर्जन करता है तो उसे 'अपान' कहते हैं। नाभि में रहकर प्राण अन्नपाचन और रक्त संचार का काम करता है तो वह 'समान' कहलाता है। 'उदान' कहलाने वाला प्राण मन-बुध्दि को शक्ति देता है और मस्तिष्क को सक्रिय करता है। शरीर त्याग के समय वही जीव को शरीर से बाहर निकालता है और अन्य शरीर में ले जाता है। समस्त शरीर में व्याप्त होकर उसे सशक्त और संतुलित बनाये रखने वाला प्राण व्यान है। पलकों का झपना, जमुहाई और अंगड़ाई आदि क्रिया भी प्राण के द्वारा ही होती हैं। कुछ विद्वानों ने उनको भी पृथक् नाम दिये हैं। एक ही प्राण की ये विभिन्न वृत्तियाँ है।

सूक्ष्म शरीर

सूक्ष्म शरीर को लिंग शरीर भी कहते हैं। अब उसका परिचय देते हैं-

बुध्दिकर्मेन्द्रियप्राण पंचकैर्मनसा धिया।
शरीरं सप्तदशभि: सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते।। 23।।

'पाँच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रिया, पाँच प्राण, मन और बुध्दि इन सत्रह का समुच्चय सूक्ष्म शरीर है। वह लिंग शरीर कहलाता है।'

व्याख्या--पाँच ज्ञानेन्द्रियों के नाम और उनकी उत्पत्ति का वर्णन पिछले श्लोकों में हो चुका है। पाँच कर्मेन्द्रियों का, पाँच प्राणों का और मन-बुध्दि का भी निरूपण पहले कर दिया है। ये सब गिनती में सत्रह होते हैं। इन सब का समुच्चय सूक्ष्म शरीर कहलाता है। यह स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म है और इन्द्रियों से इसका बाह्य प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए इसे सूक्ष्म कहा जाता है।

लिंग किसी परोक्ष वस्तु का सूचक होता है। जैसे पर्वत के पीछे उठता हुआ धूम्र अग्नि का लिंग है। धूम्र देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर भी लिंग है। इसका अन्त:प्रत्यक्ष होता है। इसे देख कर अपने कारण शरीर की संरचना

का अनुमान किया जा सकता है। कारण शरीर की गुण प्रधानता जानकर हम अपने कर्म का चयन कर सकते हैं और अपने आध्यात्मिक साधना भी निर्धारित कर सकते हैं।

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते।
हिरण्यगर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टि समष्टिता।।24।।

'उस (लिंग शरीर में) अभिमान करने से प्राज्ञ तैजसपन को और ईश्वर हिरण्यगर्भता को प्राप्त होता है। यह उन दोनों की व्यष्टिता, और समष्टिता है।'

व्याख्या--पहले कह चुके हैं कि मलिन सत्त्व की उपाधि धारण कर जीव अपने ब्रह्म स्वरूप को भूल जाता है। वह त्रिगुणात्मक कारण शरीर में तादात्म्य कर प्राज्ञ कहलाता है (देखिये श्लोक 17) प्राज्ञ को जब अपनी वासनाओं के भोग के लिए ईश्वर की आज्ञा से सूक्ष्म शरीर प्राप्त हो जाता है तो वह् उसमें अभिमान रखकर अपने को कर्ता-भोक्ता समझता है। इस अवस्था में प्राज्ञ 'तैजस' कहलाता है।

कारण शरीर के अनुकूल ही सूक्ष्म शरीर मिलता है। इसलिए यह कार्य रूप या उसका परिणाम है। कार्य में कारण अनुस्यूत रहता है, इसलिए सूक्ष्म शरीर में कारण शरीर भी स्थित है। परमात्मा अपनी चेतना के साथ आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त होने के कारण इन दोनों शरीरों में भी विद्यमान रहता है। वह एक कारण शरीर में प्राज्ञ और समस्त कारण शरीरों में एकीकृत होकर ईश्वर कहलाता है। ईश्वर समस्त कारण शरीरों की मलिनता से असंग रहकर केवल, सत्त्वगुण की उपाधि धारण करता है और उसके कारण वह सर्वज्ञ और सर्वनियंता बना रहता है।

परमात्मा ही जैसे एक कारण शरीर में प्राज्ञ है वैसे एक सूक्ष्म शरीर में व्याप्त होकर तैजस है। वह समस्त सूक्ष्म शरीरों में स्वभावत: व्याप्त होने के कारण हिरण्यगर्भ कहलाता है। संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि व्यष्टि की उपाधि से जो प्राज्ञ और तैजस है वही समष्टि की उपाधि से ईश्वर और हिरण्यगर्भ है। इससे यह सूचना मिलती है कि जीव और ईश्वर तत्त्वत: एक ही हैं। उनमें भेद नहीं है। भेद मायिक और उपाधिगत है।

समष्टिरीश: सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात्।
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया।।25।।

'ईश्वर सब के साथ अपने तादात्म्य की एकता का अनुभव करने के कारण 'समष्टि' है किन्तु उससे अन्य (जीव) उसके (सबके साथ तादात्म्य के) अभाव के कारण 'व्यष्टि' संज्ञा वाला कहलाता है।'

व्याख्या--सब जीवों के समस्त सूक्ष्म शरीरों से तादात्म्य रखते हुए व्यापक चैतन्य को अज्ञान नहीं घेरता। वह सर्वज्ञ रहता है। सब जीवों की वासनायें, उनके कर्म और फलभोग जानते हुए भी वह उनमें लिप्त नहीं होता। इसके विपरीत जीव को यह ज्ञान नहीं होता कि वह अपने तात्त्विक रूप में ब्रह्म है और सर्वात्मा होकर समस्त सूक्ष्म शरीरों को प्रकाशित कर रहा है। समष्टि और व्यष्टि का यही भेद है।

इसे समझने के लिए एक दृष्टान्त की सहायता ले सकते हैं। मान लें, किसी व्यापारिक संस्था का एक मालिक है। उसके कार्यालय में उसके अधीन कुछ एजेन्ट, कुछ लिपिक, एक मुनीम और कुछ चपरासी काम करते हैं। सबका अपना-अपना काम बटा है। वे अपना काम जानते हैं और करते हैं। माह पूरा होने पर मालिक उनके पद और कार्य के अनुरूप निर्धारित वेतन उन्हें देता है। प्रत्येक कर्मचारी अपने साथी कर्मचारी को जानता है और देखता है कि वे सब उसी के समान अपना काम करते हैं। किन्तु उनमें से यह कोई नहीं जानता कि अन्य कर्मचारी क्या कार्य कर रहे हैं, कितना कार्य कर लिया है, कितना बाकी है। उन्हें यह भी ज्ञात नहीं कि मुनीम के पास इस समय नगद पैसा कितना है। उतने से हम सब लोगों का वेतन भुगतान हो पायेगा या नहीं। केवल मालिक जानता है कि उसका व्यापार लाभ की ओर जा रहा है या हानी की ओर। वही जानता है कि उसके कार्यालय के सब कर्माचारी अपना क्या कार्य करते हैं। वह अपने ग्राहकों से सीधे और अपने एजेन्टों के द्वारा सम्पर्क करता है। इस लिए वह ग्राहकों की स्थिति भी पूर्ण रूप से जानता है। उतना ज्ञान उसके एजेन्टों को भी नहीं है। वे सब 'अकृत्स्नविद' हैं। केवल मालिक ही 'कृत्स्नविद' है।

इसी प्रकार ईश्वर सब जीवों का स्वामी है। उसे समस्त जीवों के कर्म और उनके भोग का ज्ञान है। वह समस्त जगत् की रचना और विनाश करने मे समर्थ है। वह समस्त जीवों मे व्याप्त होकर सबकी मनोदशा जानता है, किन्तु उनसे असंग रहता है।

स्थूल शरीर की रचना

सूक्ष्म शरीर को एक स्थूल शरीर की भी आवश्यकता होती है जिसमें वास करते हुए जीव जगत् के विषयों का भोग करता है। स्थूल शरीर की रचना पंचभूतों से होती है। इसलिए पहले उनकी उत्पत्ति का क्रम बताते हैं।

तद्भोगाय पुनर्भोग्य भोगायतन जन्मने।
पंचीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम्।।26।।

'पुन: भगवान् जीव के भोग के लिए भोग्य और भोगायतन की उत्पत्ति करने के लिए आकाशादि (सूक्ष्म पंच महाभूतों) में से प्रत्येक का पंचीकरण करते है।'

व्याख्या--ईश्वर को भगवान् भी कहते हैं क्योंकि वह ऐश्वर्य, धर्म, यश, लक्ष्मी, ज्ञान और वैराग्य - इन छ: अपरिमेय विभूतियों से सम्पन्न है। वह जीव के कर्मानुसार उसके सुख-दुख: की व्यवस्था करता है। इसके लिए एक ओर स्थूल भोग्य पदार्थों की आवश्याकता होती है जिनके प्राप्त होने से जीव को सुख या दुख: का अनुभव हो और दूसरी ओर उन भोग्य पदार्थों के समकक्ष स्थूल शरीर की आवश्यकता होती है, जिसमें स्थित होकर जीव उन पदार्थों को ग्रहण कर सके। जीव का सूक्ष्म शरीर भोग-साधन है और उसका स्थूल शरीर भोगायतन है।

स्थूल शरीर और भोग्य-पदार्थ स्थूल पंच महाभूतों से ही निर्मित हो सकते हैं। इस लिए शरीरादि की रचना के पूर्व इन स्थूल पंच महाभूतों की रचना करना आवश्यक है। यह कार्य ईश्वर की आज्ञा से उसके अधीन सृष्टि-रचना करने वाली माया करती है।

द्विधा विधाय चैकेकं चतुर्धा प्रथमं पुन:।
स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते।।27।।

'एक-एक (भूत-पदार्थ) के दो भाग करके उनमें से पहले एक भाग के चार-चार भाग करते हैं। (प्रत्येक के शेष आधे भाग को) उन दूसरों के (आधे भाग के चतुर्थ) अंशो के साथ मिलाने से जो पाँच-पाँच का मिश्रण होता है उसे पंचीकरण कहते हैं।'

व्याख्या - ईश्वर सूक्ष्म पंच महाभूतों को पंचीकरण प्रक्रिया द्वारा स्थूल पंचमहाभूतों का रूप देता है। यह प्रक्रिया वैज्ञानिक रूप से पाँच क्रमों में सम्पन्न होती है-

प्रथम प्रक्रिया में तन्मात्रा रूप सूक्ष्म पंचमहाभूत अपने शुध्द रूप में रहते हैं।

द्वितीय प्रक्रिया में प्रत्येक के तन्मात्रा के दो बराबर भागों में विभाजित होने की प्रवृत्ति होती है।

तृतीय प्रक्रिया में वे दोनों अंश विभक्त होकर अलग हो जाते हैं।

चतुर्थ प्रक्रिया में प्रत्येक भूत की आधी तन्मात्रा अपने अविकल रूप में रहती है और आधी अपने आप को चार अंशों में बाट लेती है। इसका प्रत्येक अंश सम्पूर्ण तन्मात्रा का आठवां भाग होता है। इस तरह इस अवस्था में (प्रथम अवस्था की) प्रत्येक तन्मात्रा पांच हिस्सों में बट जाती है--प्रथम आधा भाग और शेष चार 1/8 अंश होते हैं।

पंचम प्रक्रिया में प्रत्येक आधा भाग ज्यों का त्यों बना रहता है और अन्य तन्मात्राओं से लिये गये चार 1/8 अंशो के साथ मिल जाता है।

यह प्रक्रिया एक आरेख के द्वार आगे दिखाई गयी है।

इस प्रकार प्रत्येक स्थूल भूत पदार्थ में अपना-अपना आधा भाग और दूसरों के आधे का चतुर्थांश अर्थात 1/8 अंश मिला होता है।

हम पृथ्वी आदि जिन भूत-पदार्थों को देखते हैं वे यही पंचीकृत पंचमहाभूत हैं। इन्हीं से अन्न, वस्त्र, भवन आदि भोग पदार्थ बनते हैं । और अपना शरीर भी उन्हीं तत्त्वों से बना है। उनका वर्णन अगले श्लोक में करते हैं--

तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत्।।28।।

'उन (पंचीकृत पंच महाभूतों) से अण्ड (ब्रह्माण्ड) बनता है। उसमें भुवन, भोग्य पदार्थ और भोगाश्रय की उत्पत्ति होती है। इस स्थूल देह में स्थित हिरण्यगर्भ वैश्वानर हो जाता है।'

व्याख्या-- यह सृष्टि कार्य-कारण नियम से निर्मित होती है। अपंचीकृत पंचभूत कारण हैं और पंचीकृत पंचभूत उनके कार्य। अगले चरण में पंचीकृत पंचभूत कारण हैं और उनके मिलने से बना ब्रह्माण्ड कार्य है। इस ब्रह्माण्ड में अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पातल नीचे के लोक हैं और भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य लोक ऊपर के लोक हैं। ये चौदह भुवन कहलाते हैं। इन सब में अन्न आदि भोग्य पदार्थ और अंडज आदि चार प्रकार के शरीर-भोगाश्रय उत्पन्न होते हैं।

समस्त सूक्ष्म शरीरों का अभिमानी ईश्वर हिरण्यगर्भ कहलाता है। उसका वर्णन पहले (श्लोक 24 में) कर चुके हैं। वही हिरण्यगर्भ इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर और इसका अभिमानी होकर वैश्वानर की संज्ञा पाता है। ब्रह्माण्ड वैश्वानर का स्थूल शरीर है। ब्रह्माण्ड रूपी शरीर में समस्त प्राणियों के व्यष्टि शरीर भी सम्मिलित हैं।

व्यष्ट शरीराभिमानी जीव वैश्व कहलाता है। अब उसका निरुपण करते हैं।

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः।
ते पराग् दर्शिनः प्रत्यक् तत्त्वबोधविवर्जिताः।।29।।

'तैजस (जीव) इस स्थूल शरीर में विश्वता प्राप्त करता है और देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि (उसके भेद होते हैं) वे सब बहिर्दृष्ट होने के कारण प्रत्यक् तत्त्वबोध से रहित हैं।

व्याख्या--सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव तैजस कहलाता है। उसका वर्णन पीछे (श्लोके 24 में) हो चुका है। वह जीव जब अपने कारण और सूक्ष्म शरीरों सहित स्थूल शरीर में वास करता है और उसमें तादात्म्य कर उसी को अपनी सत्ता समझने की भूल करता है तो उसे विश्वता प्राप्त होती है। इस अवस्था में वह बाह्य जगत् की वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्पर्क कर सकता है। इस प्रकार विश्व से उसका सम्बन्ध होने के कारण उसे विश्वता प्राप्त होती है। वह भी विश्व का एक अंग बन जाता है। अतः वह वैश्व कहलाता है।

स्थूल शरीर अनेक प्रकार के होते हैं। उन सबका वर्णन नहीं किया जा सकता। उन सब शरीरों की उत्पत्ति चार प्रकार से होती है, अत: उन्हें चार वर्गों में बाँटा जा सकता है।

वे चारों जराजुय, अंडज, स्वेदज और उद्भिज हैं। मनुष्य और पशु जरायुज हैं क्योंकि वे गर्भ से एक जेर नाम की झिल्ली से ढके हुए पैदा होते हैं। अंडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी, सर्प, मछली आदि अंडज हैं। पसीने से उत्पन्न होने वाले जूँ, चीलर आदि स्वेदज और धरती से उत्पन्न पेड़-पौधे उद्भिज हैं। शंकराचार्य जी ने शरीरों का एक पाँचवाँ प्रकार भी माना है। वे उष्मा से उत्पन्न होने वाले संशोकज कहलाते हैं। (छा० उ० भाष्य 6-3-1) छान्दोग्य उपनिषद् की इस श्रूति ने केवल तीन ही बीज नाम से भेद किये हैं--आण्डज, जीवज और उद्भिज। जीवज में जरायुज, स्वेदज और संशोकज का अन्तर्भाव समझना चाहिये।

ऐसे शरीरधारी जीव बहिर्दृष्टि वाले होते हैं, इसलिये वे बाहर ही देखते हैं। उनका ध्यान अपने शुध्द आत्मस्वरूप की ओर नहीं जाता। कठोपनिषद् की श्रूति (2-1) ऐसा ही कहती है--**'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू, तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'**। स्वयं प्रकट होने वाले परमेश्वर ने समस्त इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर जाने वाले ही बनाए हैं, इसलिये जीव इन्द्रियों के द्वारा प्राय: बाहर की ही वस्तुओं को देखता है, आत्मा नहीं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध जीव के भोग्य पदार्थ हैं। वे इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं। इन भोगों को ग्रहण करने के लिए इन्द्रियाँ बाहर जाती हैं, और विषयों को ग्रहण कर मन के पास पहुँचाती हैं। उनके अनुकूल होने पर मन सुखी होता है और प्रतिकूल होने पर दुखी होता है। बुध्दि इस अनुभव के आधार पर विषयों की हेयता और

उपादेयता का विवेक करती है, तथा स्वास्थ्यकर और सुखदायी विषयों को ही ग्रहण करने का आदेश इन्द्रियों को देती है।

अविवेक के कारण बहुत से मनुष्य इस बात को नहीं समझ पाते और विषयों में आसक्त होकर उन्मत्त की भाँति उन्हीं में रमण करते और दु:ख शोकमय नरकों में पड़ते हैं। वे अपने मन-बुध्दि के प्रकाशक अन्तर्यामी परमात्मा की ओर ध्यान ही नहीं देते। वे अपने कर्म-जल में फँस जाते हैं। उनका वर्णन आगे श्लोक में करते हैं।

ः:ः:ः:ः:ः:ः:ः:ः:ः:ः: